श्रुति-संदीपनी

डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली

श्रुति-सन्दीपनी

[वेदमन्त्रों का जीवनोपयोगी अर्थ-चिन्तन]

रचनाकार :

डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली

अर्चना प्रकाशन, अजमेर

श्रुति-सन्दीपनी

■ रचनाकार—डॉ. बद्रीप्रसाद पंचोली

■ प्रकाशन वर्ष—संवत् २०५६ [सन् 1999]

■ मूल्य—एक सौ रुपये

■ प्रकाशक—अर्चना प्रकाशन

B-6, दातानगर, रेम्बल रोड, अजमेर-305001

■ मुद्रक—अर्चना प्रकाशन, अजमेर दूरभाष : 425664

22-1

आत्म - निवेदन

वेद श्रुति है—सुना हुआ ज्ञान। वेदवचन को आप्तवचन कहा गया है। वह प्राप्त-वचन है—प्रकृष्ट उपायों से प्राप्त हुआ है और वह व्याप्त [वि+आप्त]-वचन भी है। वह ऋषि-प्रदत्त ज्ञान है। ऋषि मन्त्र-द्रष्टा होता है। मनुष्य मनन-धर्मा है, मनन करने में समर्थ है—चिन्तन करने में समर्थ है। उसे मनन करने के लिए सामग्री ऋषियों ने दी है। ऐसी सामग्री जिसका जिसका मनन करने से उसकी रक्षा होती है—मननात् त्रायते इति मन्त्रः। ऋषि मन्त्रद्रष्टा होते हैं—ऋषयः मंत्र-द्रष्टारः। उन्होंने मनन सामग्री लोकहितार्थ प्रस्तुत की। वही वेद है—जीवन और जगत् का साक्षात्-ज्ञान, जीवन का संविधान।

वेद को माता कहा गया है—स्तुता मया वरदा वेदमाता। माता है तो उसका पोषण सबको मिलना ही चाहिए। मनुष्य जाति वेदमाता की सन्तान है। माता का वात्सल्य सबके लिए समान रूप से उपलब्ध है। उसे अनुभव करने की आवश्यकता है; उसे प्राप्त करने की आवश्यकता है।

वेदमाता का वात्सल्य तो वेद-वाणी से ही प्राप्त किया जा सकता है। वेद का एक-एक मन्त्र रत्नों का खजाना खोल कर रख देता है सामने। उसे देखें, समझें और उपयोग में लें। यास्क ने कहा है कि एक शब्द भी अच्छी तरह से जान लिया जाए अथवा सम्यक् रूप से प्रयुक्त किया जाए तो वह स्वर्गलोक में भी कामधेनु हो जाता है—

एकोऽपि शब्दः सुज्ञातः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गलोकेऽपि कामधुग् भवति।

माता की भाषा अपरिचित नहीं होती। सब उसको जानते हैं; पहचानते हैं। लोगों ने भ्रांति फैला रखी है कि वेद का अध्ययन बड़ा कठिन है। यहाँ तक कहा जाता है कि वेद पढ़ना—लोहे के चने चबाने जैसा है। ऐसी भ्रांति को छोड़ें। वेद की सहज-सरल भाषा है। वेद के शब्दरूप लोकप्रचलन में नहीं रहे हैं इसलिए कहा जाने लगा है कि वेद की भाषा बहुत कठिन है। पर, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि वेद के शब्द अपरिचित ही हो गए हैं। माता की भाषा में बालक को वे शब्द अब भी सुनने को मिलते हैं।

इसलिए जो व्यक्ति माता की भाषा को जानता-पहचानता है वह वेद के अधिक निकट होता है। साहित्यिक और शास्त्रीय भाषा के जानकार को वेद समझने के लिए भाष्यकार का सहारा लेना होता है।

इस सङ्कलन में वेद-मन्त्रों की सहज-सरल व्याख्या है। प्रयत्न किया है कि मन्त्र के अर्थ पर चिन्तन करने की दिशा संकेतित की जाए। संकेत के आधार पर सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी अपने चिन्तन को आगे बढ़ा सकता है।

भारतीय शिक्षणपद्धति में श्रवण-मनन और निदिध्यासन पर बल दिया गया है। श्रुति का सम्बन्ध श्रवण से ही था। उसको लिखा गया तो पठनीय सामग्री बन गई। पढ़ना है—मनन करने के लिए और मनन करना है ध्यान करने लिए। इससे चिन्तन का विस्तार होगा। जीवन प्रशस्त होगा। लोक में जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा होगी।

यह न मान लें कि लेखक के अर्थ-संकेत अन्तिम हैं और परिपूर्ण हैं। उनमें चिन्तन की एक दिशा है। पाठक स्वोपज्ञता से मन्त्र को भिन्न रूप में भी समझ सकता है। वेद के विषय में व्यक्ति-व्यक्ति में जिज्ञासा उत्पन्न हो—यही इस सङ्कलन का उद्देश्य है। आशा है इसका लाभ उठाने के साथ पाठक सुझाव भी देंगे कि जन-जन में वेद-व्याप्ति के लिए किया जाने वाला यह प्रयत्न अधिक व्यापक और प्रभावी कैसे हो?

—बद्रीप्रसाद पंचोली

अनुक्रम

कल्याणवाहिनी उषा

उषो ! भद्रेभिर् आ गहि, दिवश् चिद् रोचनाद् अधि ।
वहन्त्व् अरुण-प्सव, उप त्वा सोमिनो गृहम् ।

ऋग्वेद १.४९.१

१ (उष: भद्रेभि: आ गहि) हे उष: ! कल्याणकारी (कर्मों और भावों) के साथ आओ,

२ (दिव: रोचनाद् अधि चित्) द्यौ के तेजो-दीप्त स्थान-दीप्त आदित्यमंडल से ।

३ (सोमिन: गृहम् उप) सोम-कामी के घर की ओर

४ (त्वा अरुण-प्सव: वहन्तु) तुमको अरुणिम रूप वाली (रश्मियां) लेकर आवें ।

यह प्रस्कण्व (काण्व) का दर्शन है । इसमें उषा का आह्वान है । उषा का प्रतिदिन आगमन होता है । सूरज उगता है तो उसके पहले उषा का आगमन होता ही है । तब उषा के आह्वान का क्या तात्पर्य है ?

दिन और रात का प्राकृतिक विधान है । दिन के बाद रात आएगी और रात के बाद दिन उगेगा । साधक इस प्राकृतिक विधान से सन्तुष्ट नहीं होता । वह प्रकृति का संस्कार करना चाहता है । अपनी संस्कार-निष्ठा से वह दिन को सुदिन में बदलना चाहता है । इसी तरह, दिन का आरम्भ जिस उषा से होता है उसको वह अपनी संस्कार-निष्ठा के साथ जोड़ना चाहता है ।

स्पष्ट है कि 'उषा, आओ' इतना कहना पर्याप्त नहीं है । साधक कहता है, उषा, भद्रताओं के साथ आओ-उतरो जीवन में । जब उषा भद्रवाहिनी-कल्याण-वाहिनी बनेगी तब दिन सु-दिन में परिवर्तित होगा ।

भद्रता कैसी ? चिन्तन की भद्रता, कर्म की भद्रता, भाव की भद्रता—सभी प्रकार की भद्रताएँ आएँ उषा के साथ । जो सोचें वह भद्र हो, जो कर्म करें वह भद्र हो । आपसी व्यवहार में भद्रता हो । पूरा संसार भद्रता से भरा हुआ हो । 'भद्र' शब्द से लोकभाषा का 'भला' शब्द विकसित हुआ है । जगत् में सब कुछ भला ही भला हो—ऐसी उषा उतरे जीवन में ।

जीवन भलाई के लिए समर्पित हो । सारा संसार भलों के लिए हो, भलों का हो । इसे भला बनाने के लिए सब जुट जाएँ । द्युलोक के तेजोदीप्त छोर से भलाई का सन्देश लेकर आए उषा । इस भलाई के सन्देश को अरुणोदय के समय की लाल-लाल रश्मियां हम सोमप्रेमियों के घर में लेकर आएँ ।

जिस तरह की प्रेरणाप्रद, कल्याणकारिणी उषाओं को साधक जीवन में उतारने को आतुर है उनको उतारने और उनसे लाभ उठाने की योग्यता उसमें है । वह सोमी है—सोम्य है । सोम्य के आंगन में उगती है उषा की भद्रता का विस्तार करने वाली प्रथम किरण । उसका स्वागत केवल शबदों से नहीं किया जा सकता ।

भलाई के काम करके किया जा सकता है। मन में सबके कल्याण की भावना भर किया जा सकता है।

परमात्मा की सृष्टि बहुत सुन्दर है; पर मनुष्य इस सृष्टि को संवारता है, सजाता है अपने हितकारी चिन्तन से, भलाई के कामों से और भलाई की भावना से। हम प्रकाशधर्मी उषा की लालिमा और सूर्य की प्रथम किरण को भद्रतावाही बनाने की योग्यता सम्पादित करना चाहते हैं।

उषा ! भद्र लेकर आ, तेज-दीप्त द्यो: से नीचे।
अरुण रश्मियां लावें, तुमको सोमी के घर ।।
(अनुष्टुप् छन्द)

नीरोगकारी सविता

हिरण्य-पाणि: सविता वि-चर्षणिर्, उभे द्यावा-पृथिवी अन्तर् ईयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यम्, अभि कृष्णेन रजसा द्याम् ऋणोति ।।
ऋग्वेद १.३५.९

१ (हिरण्य-पाणि: वि-चर्षणि: सविता) स्वर्ण-हस्त, विशेष रूप से संचारशील, सविता देव

२ (उभे द्यावा-पृथिवी अन्तर् ईयते) द्यौ और पृथिवी, दोनों के भीतर सञ्चार करता है।

३ (अमीवाम् अप बाधते) [वह] रोगों को दूर करता है।

४ (सूर्यं वा इति) अथवा [वह] सूर्य है / (सूर्यं वेति) सूर्य गति करता है।

५ (कृष्णेन रजसा द्याम् अभि ऋणोति) प्रकाशहीन अन्तरिक्ष से द्यौ तक को वह प्रकाशित करता है।

इस मन्त्र में हिरण्य-स्तूप ऋषि ने सविता देव की स्तुति की है। इसमें सूर्य से रोग दूर करने की प्रार्थना की गई है। किसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रार्थना उससे की जाती है जिसमें उस कामना की पूर्ति करने की योग्यता हो। सविता 'प्र-सविता' है—संसार के पदार्थों को पैदा करने की शक्ति से सम्पन्न है। जो पैदा करने वाला होता है उसमें अवरोध को ध्वस्त करने की असीम शक्ति होती है।

सविता-सूर्य द्यो और पृथिवी के बीच में गतिमान् है, कार्यरत है। इसका अर्थ यह भी है कि दृश्यमान जगत् में वह प्रभावी है। वह अन्तरिक्ष में भी प्रभावी है और द्यो में भी। उसकी शक्ति अन्तरिक्ष के अन्धकार में भी अपना काम करती है और द्यो के प्रकाश-क्षेत्र में भी।

सविता को वैकल्पिक नाम सूर्य दिया गया है। सूर्य को अन्यत्र जड़ और

चेतन की, चर और अचर की अन्तश्चेतना या 'आत्मा' कहा गया है—सूर्य आत्मा जगतस् तस्थुषश् च । जो सबका आत्मा है वह सबको स्वस्थ रखने का सामर्थ्य तो देगा ही । इसलिए उससे रोग दूर करने के लिए प्रार्थना की गई है ।

जन्मदाता में असीम रोग-निरोधक शक्ति होती है, इसका प्रमाण है माता का शरीर । जब वह गर्भवती होती है, उस समय उसमें इतनी रोग-उन्मूलक शक्ति पैदा हो जाती है कि उससे गर्भस्थ बालक और गर्भवती माता, दोनों पूर्णतया स्वस्थ रहते हैं । आयुर्विज्ञान के विशेषज्ञ मानते हैं कि एक गर्भवती के शरीर में उत्पन्न इंजाइमों से संसार के सब रोगियों का इलाज किया जा सकता है ।

माता को प्रकृति यह क्षमता इसलिए देती है कि उसके गर्भ में एक शिशु—प्रकृति का लाडला राजकुमार पल रहा होता है । उसकी सुरक्षा के लिए प्रकृति इतना प्रबन्ध करती है । सविता जन्मदाता है । उसको भी प्रकृति, मानवी माता की तरह, असीम शक्ति प्रदान करती है । प्रकृति भारत में माता इसी लिए मानी गई है कि वह सर्वत्र सर्जनशील शक्तियों या पदार्थों में शक्ति भरती है ।

सविता का विशेषण है—हिरण्यपाणि । उसके सुनहरे हाथ हैं—सुनहरी या सोने की किरणें हैं । 'हिरण्य' का अर्थ निरुक्तीय चिन्तन के आधार पर, हितकारी और रमणीय होता है । हिरण्यपाणि सविता अपनी किरणों से रोग दूर करके सबका हित करता है और सबको प्रसन्न करता है । इस तरह उसका हिरण्य-पाणि नाम सार्थक सिद्ध होता है ।

सविता का एक और विशेषण है विचर्षणि । वि-चर्षणि का अर्थ है—विशेष रूप से अच्छे-बुरे—स्वास्थ्यकारी और अस्वास्थ्यकारी को देखने वाला । परख करने वाला । इस बात की पहचान करने वाला कि कौन से पदार्थ लाभकारी हैं और कौन से नहीं । जो पदार्थ स्वास्थ्यकारी हैं, लाभकारी हैं उनका उपयोग करके सब प्राणी स्वस्थ रह सकते हैं ।

वि-चर्षणि का अर्थ विशेष रूप से संचरणशील भी होता है । रोग से अशक्त होकर जो लाचार हो जाते हैं, पड़ जाते हैं वे सविता की रोगनिरोधक और संचारशील शक्ति के कारण नीरोग और संचरण करने में समर्थ हो जाते हैं ।

यहां सूर्य की किरणों की रोगनिरोधक शक्ति की ओर संकेत किया गया है । सूर्यकिरण-चिकित्सा-पद्धति का विकास इसी आधार पर हुआ प्रतीत होता है ।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि का नाम 'हिरण्य-स्तूप' संकेतित करता है कि उसके पास हित-रमणीय पदार्थों का पिण्ड है अथ वा ऐसे पदार्थों की व्यापक जानकारी है । उसी का आविष्कार है कि सविता की किरणों की रोगनिरोधक शक्ति से जीवन को सुखी बनाया जा सकता है ।

रोग-निरोध सविता का स्थूल रूप से प्रतीत होने वाला लाभ है, तो सूक्ष्म लाभ अज्ञान के अन्धकार का नाश भी है । वह अपने प्रकाश से अन्धकार पर विजय प्राप्त करने में समर्थ है । उससे वह सामर्थ्य साधक को भी प्राप्त होता है । ▣

रोग-शोक से मुक्त करो, हे !

शतं ते राजन् ! भिषजः सहस्रं, उर्वी गभीरा सु-मतिष् टे अस्तु ।
बाधस्व दूरे निर्-ऋतिं पराचैः, कृतं चिद् एनः प्र मुमुग्ध्य् अस्मत् ।।

ऋग्वेद १.२४.९

१ (राजन् ! ते भिषजः शतं सहस्रम्) हे राजन् ! तेरी ओषधियाँ सैकड़ों, हजारों (हैं) ।

२ (ते सु-मतिः उर्वी, गभीरा अस्तु) तुम्हारी सु-बुद्धि विस्तीर्ण (और) गहरी हो ।

३ (निर्-ऋतिं दूरे पराचैः बाधस्व) दुर्गति को (हमसे) दूर हटाकर रोको ।

४ (कृतं एनः चित् अस्मत् प्र मुमुग्धि) किए हुए पापों से हमें मुक्त करो ।

यह वरुण की स्तुति है । शुनःशेप का दर्शन है । इसमें पापमुक्ति के लिए प्रार्थना की गई है । वरुण सम्राट् है । वह पाशों से मुक्त करता है । पापों से भी मुक्त करता है । उसे मुक्तिदाता कह सकते है । मुक्तिदाता से ही मुक्ति के लिए प्रार्थना की जा सकती है ।

शुनःशेप दरिद्र अजीगर्त का बेटा है । मध्यम है । मध्यम का कोई सहारा नहीं होता; माता-पिता भी छोड़ देते हैं । पर, शुनःशेप है जागरूक । विद्यापिपासु है । इसलिए उन्नति करने में समर्थ है । विद्यार्थी के गुणों में एक श्वान-निद्रा होना भी है । शुनःशेप का अर्थ है—कुत्ते की तरह क्षण-भर निद्रा लेने वाला, चमक-नींद वाला, चिर-जागरूक ।

इस जागरूकता के कारण वह विश्वामित्र का मुँहबोला पुत्र बन गया और उसका नाम हो गया देव-रात—देवों द्वारा प्रदत्त । अपने जागरूक स्वभाव के कारण उसकी निष्पाप बनने की इच्छा हुई । वरेण्य प्रभु (वरुण) के राज्य में वह निष्पाप होकर जीना चाहता है । इसीलिए वरुण से वह पाप-मुक्ति हेतु प्रार्थना करता है ।

पाप रोग की तरह होता है । उससे छुटकारा न मिले तो बढ़ता रहता है । वरुण राजा है । उसके पास सब प्रकार के रोगों का निदान है । सैकड़ों, हजारों ओषधियां हैं उसके पास । ओषधियां भी हों और रुचि न हो तो चिकित्सक रोग दूर नहीं कर सकता । वरुण के पास सु-मति भी है । उसकी रुचि है बड़ी विस्तीर्ण, और गम्भीर भी । वह चाहता है कि उसके साम्राज्य में सब नीरोग हों और सब निष्पाप हों ।

रोग और पाप दरिद्रता से बढ़ते हैं, साधनविपन्नता की छाया में पलते हैं । सम्राट् वरुण के राज्य में कोई दरिद्र क्यों रहे ? सब साधन-सम्पन्न हों । राजा की सु-मति सबकी सु-गति का कारण बने । किसी की दुर्गति न हो । दुर्गति की अधोगति हो । महाकवि केशवदास ने लिखा है कि राम के राज्य में पापों की ही अधोगति थी—पापन की ही अधोगति केशव गाइय । वरुण दुर्गति को दूर से दूर रखे ।

व्यञ्जना से इस छोटे से मन्त्र में एक आदर्श समाज और राज्य की व्यवस्था की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। राम-राज्य के विषय में महात्मा तुलसीदास ने लिखा है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहुँहि नहिं व्यापा।

आदर्श राजा के राज्य में प्रजा सब प्रकार के ताप-सन्ताप से मुक्त होनी चाहिए। वरुण सम्राट् है। उसके पास किस बात की कमी ? प्रजा-पालन में रुचि है तो सब साधन अपने आप सुलभ हो जाते हैं।

वरुण की तरह की उर्वी और गम्भीर सु-मति होनी चाहिए शासक में। प्रजा को रोग-शोक से मुक्त करने का सामर्थ्य होना चाहिए उसमें। प्रजा-जन की शारीरिक पीड़ा को दूर करने के लिए उसके पास साधन हों—धरती पर सैकड़ों, हजारों ओषधियाँ हैं। उनकी जानकारी रखने वाले व्यक्ति भी हों। राजा ऐसे ओषधि-विशेषज्ञों को नियुक्त करके सबको रोग-मुक्त करे। इसे प्रथम पुण्य कार्य समझे।

भूखे को रोटी चाहिए, उपदेश नहीं। रोगी को दुःखनिवारक ओषधि चाहिए, पकवान से भरा हुआ थाल नहीं। बुद्धिमान् राजा पहचान करे कि किसको किस समय क्या चाहिए ? तदनुसार अन्न, ओषधि आदि की व्यवस्था करे।

वह दुर्गति को दूर भगाए। दुर्गति अभावों से होती है। अभाव मूलतः तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञान का अभाव, न्याय का अभाव और जीवनोपयोगी वस्तुओं का अभाव। प्रजा-पालक शासक व्यवस्था करे कि विद्याभ्यासी ब्राह्मण अज्ञान को दूर करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। अन्याय को दूर करने और न्याय की यथोचित व्यवस्था करने में क्षत्रिय दत्त-चित्त रहे। इसी तरह जीवनोपयोगी वस्तुओं के अभाव को वैश्य दूर करें। शासक सबको कार्यनिरत रखे।

राजा अपने विवेक से सब व्यवस्थाएँ करने को तत्पर हो और प्र-जा उन व्यवस्थाओं का लाभ उठाने योग्य न हो तो ? तब तो कुछ भी नहीं होगा। प्रजा को 'प्र-जा' बनना ही चाहिए। उसमें रोगमुक्ति की लालसा होनी ही चाहिए। दरिद्रता और दुर्गति से बचने की चाह होनी ही चाहिए। पापों से दूर रहने की तीव्र अभिलाषा होनी ही चाहिए।

साधन-विपन्न और संकट-ग्रस्त शुनःशेप ने अपनी स्थिति से मुक्ति पाने के लिए अपने इष्ट देव को पुकारा तो वह संकटमुक्त और निर्भय हो गया। उसने चाहा तो चाह पूरी हुई। वह देवता का वर दान बन गया। शुनःशेप ने वरुण से कृपा-याचना की और उनको अपने अनुकूल बना लिया। उसी तरह शासक और शासित में एकता, एकमतता हो। तब काम बनेगा।

शत-सहस्र ओषधियां तेरी,
राजन्! उर्वी गम्भीर सुभूति भी।
अधोमुखी दुर्गति कर दूरे,
पापमुक्त भी कर दो हमको। (त्रि-ष्टुप् छन्द) 6

याजक बन दाता बनें

यत् त्वा तुरीयम् ऋतु-भिर्, द्रविणो-दो यजामहे ।
अध स्मा नो ददिर् भव ।। ऋग्वेद १.१५.१०

१ (द्रविणो-दः) हे धन-दाता देव ! (यत् त्वा) जो तुझको (ऋतु-भिः) ऋतुओं के अनुसार (तुरीयम् यजामहे) चौथा भाग [देकर] हम यजन करते हैं ।

२ (अध नः स्म) इस कारण हमारा हो ।

३ (ददिर् भव) तू दाता बन ।

यह मेधातिथि ऋषि का दर्शन है । मेधातिथि वह होता है जो मेधा प्राप्त करने के लिए निरन्तर यत्न करता हो । मेधा जिसकी अतिथि हो उसे भी मेधातिथि कहा जाएगा ।

यह अग्नि की स्तुति है । अग्नि को 'द्रविणो-दाः' कहकर सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है—धन-दाता । वह धनदाता है, इसलिए धन पाने के लिए उसका यजन करते हैं ।

यजन इसलिए किया जाता है कि वह धनदाता देव हम याजकों का हित-साधन करने वाला बने । हित-साधन कैसे करेगा वह ? धन देकर करेगा । हम तो ऋण-स्वरूप हैं । प्रत्येक जन्म लेने वाला ऋण-स्वरूप ही होता है । ऋण से धन बनना होता है, धन्य बनना होता है । जीवन-साधना का लक्ष्य होता है धन्य बनना । ऋण से धन बन जाना ।

द्रविणोदा—धनदाता देव धन देगा तो धन्य बन पाएँगे । वह धन नहीं देगा तो हम ऋण रह जाएँगे । धन या धन्य नहीं बन पाएँगे ।

धन वह नहीं होता जिसे पाया और खो दिया । धन वह नहीं होता जिसे इकट्ठा किया और उस पर कुण्डली मार कर बैठ गए; जिसको खाने-खरचने में भी कष्ट होता हो । धन वह होता है जिसे देते रहने की बात मन में जागती है । उसे जितना जितना दिया जाएगा वह उतना ही बढ़ेगा ।

ऐसा धन कागज या धातु के टुकड़ों का नहीं हो सकता । यह धन तो सद्‌गुणों का हो सकता है । विद्या के धन को देते ही रहो, देते ही रहो । वह बढ़ेगा ही, कम नहीं होगा—

विद्या के भण्डार की, बड़ी अपूरव बात ।
ज्यों खरचै त्यों-त्यों बढ़े, बिन खरचै घटि जात ।।

विद्या किसी को न दी जाए तो विद्या का धन घट जाएगा, नष्ट हो जाएगा ।

जितने भी मानवोचित सद्‌गुण हैं उनको भी बटोर कर नहीं रखा जाता ।

उनका परहित में उपयोग करना होता है। सत्य, अहिंसा, करुणा, सहानुभूति, सहयोग, सेवा आदि का प्रदर्शन करना होता है। इससे समाज में सद्गुणों का प्रसार होता है। श्रेष्ठ जनों का निर्माण होता है। श्रेष्ठ समाज बनता है।

श्रेष्ठ समाज श्रेष्ठ व्यक्ति बनने से होता है। स्वयं श्रेष्ठ बनें और दूसरों को श्रेष्ठ बनाने में सहायक बनें। यह प्रेरणा धनदाता देव से मिलती है। उसके लिए यजन करके हम उसके हो जाते हैं तो वह हम साधकों का बन जाता है। यह सम्यक् भावना—सम्भावना श्रेष्ठ समाज का विकास करती है।

२ धनदाता अग्नि का यजन कैसे करें? मन्त्र में कहा गया है कि ऋतुओं से यजन करें। ऋतुओं के अनुसार सदाचार का पालन करते हुए यजन करें। शरद्, शिशिर, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा—ये छह ऋतुएँ होती हैं। इनके अनुसार सदाचार का पालन करें।

वसन्त ऋतु सतत उत्साह प्रदान करती है। ग्रीष्म ऋतु कठोर परिश्रम करके पसीना बहाना सिखाती है। वर्षा की सीख का गोस्वामी तुलसीदास ने बड़े विस्तार से विवेचन किया है—

सिमिट सिमिट जल भरहिं तलावा।
जिमि सम्पत्ति सज्जन गृह आवा॥

बूँद अघात सहें गिरि कैसे।
खल के वचन सन्त सह जैसे॥

शरद् ऋतु सहज प्रसन्नता का सन्देश लेकर आती है। वर्षा के दुर्दिन पर विजय पाने का संकेत देती है शरद् ऋतु।

शिशिर और हेमन्त ऋतुएँ कष्ट-सहिष्णु बनाती हैं और आशा का स्वर जगाती हैं! ऋतु ऋतु का सन्देश लेकर जीवन को श्रेष्ठ बनाया जा सकता है।

३ ऋतुओं के अनुसार तुरीय या चौथाई को समर्पित करके यजन किया जाता है। यह 'चौथाई' गृहस्थ जीवन के पच्चीस वर्ष का होता है। गृहस्थ यज्ञ करता है। उससे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम भी पोषण प्राप्त करते हैं। गृहस्थ आश्रम को वट वृक्ष की तरह कहा गया है जिसकी छाया में सब पलते हैं।

हम साधकों के ऋतु-अनुसारी तुरीय यज्ञ के फल के रूप में वह धन-दाता आराध्य देव हमारा बने और दाता बने। उससे प्रेरणा लेकर हम भी दाता बनेंगे। विद्या और सद्गुणों का दान देकर श्रेष्ठ समाज के निर्माता बनेंगे।

ऋतुओं से द्रविणोदा! करें तुरीय यजन।
दाता बन मेरा हो जा। (गायत्री छन्द)

■

अतो विश्वान्य् अद्भुता, चिकित्वाँ अभि पश्यति ।
कृतानि या च कर्त्वा ।। (ऋग्वेद १.२५.११)

(अतः विश्वानि अद्भुता चिकित्वान्) इसलिए सब अद्भुत [कर्मों] को [करने की विधि] जानने वाला (या कृतानि च कर्त्वा) जो किया और [जो] करना [है उसे] (अभि पश्यति) अभिमुख होकर देखता है ।

यह शुनःशेप-कृत वरुण की स्तुति है । वरुण चिकित्वान् है—जानने वाला है । जानने वाला होने से वह देख भी सकता है । यों तो जिसके पास आँखें हैं वह सबको देखने में समर्थ है; पर सयाने (स-ज्ञान) की आँखों में देखने की जो शक्ति है वह सबसे निराली है । उस अदा का क्या कहना ? है वह चेतानेवाला ।

वह देख लेता है उसको जो किया जा चुका है; वह देख लेता है उसको जो किया जाने वाला है । और जो हो रहा है उसे ? उसको भी देख लेता है । भूत, वर्तमान और भविष्य को देखने वाला होने के कारण वह त्रिकाल-द्रष्टा है । वह विगत, वर्तमान और होनहार को अभिमुख होकर देखता है, अभि पश्यति, आत्मीयतापूर्वक देखता है ।

उसकी दृष्टि अपनत्व की दृष्टि होती है । कृपा की वृष्टि करने वाली दृष्टि होती है । वह जीवनदायिनी दृष्टि होती है । बड़ी व्यापक दृष्टि होती है । उस दृष्टि को पाने के लिए भक्त जनों में कितनी ललक होती है,

प्रभु जी ! मेरी ओर निहारो ।

ऐसी दृष्टि चिकित्वान्—चेतनावान् बनने पर सम्भव हो सकती है । वह तो सारे अद्भुतों का जानकार है । जीवन और जगत् के सारे रहस्यों को जानता है । उससे छिपा हुआ कुछ भी नहीं है । कण-कण को जानता है । हर प्राणी को जानता है । सबका जानकार है तो उनके किए-धरे को भी देखेगा ही । त्रुटि हुई तो चेताएगा ।

साधक या आराधक उस वरणीय प्रभु के गुणों को अपने भीतर भर लेना चाहता है । गुणानुवाद करना चाहता है । वह भी ब्रह्माण्ड के कण-कण के रहस्य को पहचान लेना चाहता है । अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए विश्व का मर्म समझ लेना चाहता है ।

मनुष्य को जीवन कर्म करने के लिए मिला है । वह जीवन के मर्म को पहचान लेगा तो वह भी तय कर लेगा कि क्या हो चुका है और क्या किया जाने वाला है । वह वर्तमान की क्रियापद्धति से भी परिचित होता है । तब वह जो कुछ करेगा वह श्रेष्ठ कर्म होगा । प्रभु के अनोखे स्वरूप और उसकी अनोखी दृष्टि से परिचय कर लेने के बाद कौन-सा श्रेष्ठ कर्म बच गया जिसे वह नहीं कर सकता ?

अतः विश्व अजूबों को, देख रहा जानकर ।
किया और करना जो । (गायत्री छन्द)

कर्म और योग का सिद्धिस्थल : घर

यस्माद् ऋते न सिध्यति, यज्ञो विपश्चितश् चन।
स धीनां योगम् इन्वति ॥ ऋग्वेद १.१८.७

१ (यस्मात् ऋते) जिसके विना (विपश्चितः यज्ञः चन) ज्ञानी का यज्ञ भी (न सिध्यति) सिद्ध नहीं होता।

२ (सः) वह [सदः का रक्षक] (धीनां योगम्) बुद्धियों के योग को (इन्वति) प्रेरित करता है/करे।

यह मेधातिथि ऋषि का दर्शन है। इसमें सदः के रक्षक (=गृह-देवता) का गुणगान है। गृहदेवता अग्नि होता है। प्रत्येक घर में गार्हपत्य अग्नि की प्रतिष्ठा हुआ करती थी। उसे सुरक्षित रखा जाता था। घर में ही परिवार नामक संस्था का विकास सम्भव है।

भारत योगभूमि है, यज्ञभूमि है। यज्ञ और योग की साधना घर में, परिवार में की जा सकती है। 'यज्ञ' का अर्थ संगतिकरण भी होता है। सब मिलें और अपना दायित्व पूरा करें। 'योग' का अर्थ जोड़ होता है। सब मिलें। एक दूसरे का सहयोग करने के लिए जुड़ें। यह योग है। घर-परिवार में इसके लिए अच्छा प्रशिक्षण मिल जाता है।

इस मन्त्र की विशेषता है कि इसमें 'यज्ञ' और 'योग' दोनों शब्द एक साथ आए हैं। घर में यज्ञ भी सम्भव है और योग भी। घर के लिए 'सदः' शब्द बड़ा सार्थक है। जहाँ सब मिलकर बैठें वह सदः होता है। 'सदः का पति' वह होता है है जो मिलकर बैठे हुए लोगों का पालन करने वाला हो।

मन्त्र में पहली बात यह कही गई है कि सदः के पति या गृहदेवता के बिना यज्ञ पूरा नहीं होता। यज्ञ करने वाला विपश्चित् (बहुत विवेकशील, समझदार) हो सकता है। उसके समझदार होने मात्र से यज्ञ पूरा नहीं हो सकता। वह समझदारी का परिचय दे तब यज्ञ पूरा होगा।

समझदारी यह है कि सदः के पति को अपना सहयोगी बनाए। यज्ञ सफल तब होगा जब समझदार यजमान गृहदेवता को अपना साथी बनाए।

यज्ञ सर्वश्रेष्ठ कर्म होता है। सर्वश्रेष्ठ कर्म करके ही श्रेष्ठ या आर्य बना जा सकता है। उद्देश्य की पवित्रता, संकल्प की दृढ़ता, काम करने की श्रेष्ठ विधि और गहरे आत्मविश्वास से कर्म श्रेष्ठ बनता है। यह संयोग गृहदेवता की कृपा से सम्भव है। देवता तो साथी-सहयोगी तभी बन सकते हैं जब व्यक्ति कठोर श्रम करे। वेद का वचन है—न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः, 'देव परिश्रमी के बिना मैत्री नहीं करते।'

गृहदेवता, एक तो, घर-परिवार में रहने वालों, उठने-बैठने वालों का यज्ञ सिद्ध करता है, उनके कर्म को श्रेष्ठ कर्म बनाता है। दूसरा, वह उनकी बुद्धियों के योग को प्रोत्साहित करता है। स्थूल शरीर से आदमी जो भी काम करता है वह मन के स्तर पर शक्ति, और बुद्धि के स्तर पर ऊर्जा बनता है—ओज बनता है।

मन के साथ इच्छाएँ जुड़ी रहती हैं, अनन्त इच्छाएँ जुड़ी रहती हैं। इससे मन के स्तर पर बिखराव बहुत होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन तीनों वृत्तियों में दूरी बनी रहती है। बुद्धि के स्तर पर यह बिखराव समाप्त हो जाता है। समरसता आ जाती है। इसी को बुद्धि-योग कहा जाता है। घर में, शान्त और स्थिर वातावरण में बुद्धि-योग सफल होता है और कर्मसिद्धि भी मिलती है।

गृहपति बिना यज्ञ, ज्ञानी का सिद्ध न होता।
बुद्धि-योग प्रेरे वही। (गायत्री छन्द)

□

सुखप्रदा पृथिवी

स्योना पृथिवि ! भवान्+ऋक्षरा नि-वेशिनी।
यच्छा नः शर्म स-प्रथः। ऋग्वेद १.२२.१५

१ (पृथिवी ! स्योना भव) हे पृथिवि ! सुखदायिनी बन।

२ (अन्+ऋक्षरा, नि-वेशनी) निष्-कण्टक, निवास कराने वाली।

३ (नः स-प्रथः शर्म यच्छ) हमारे लिए विस्तारयुक्त कल्याण प्रदान कर।

यह मेधातिथि द्वारा की गई पृथिवी की स्तुति है। साधक सुख चाहता है, निष्कण्टक जीवन बिताना चाहता है और अपने निवास-स्थान को निरापद चाहता है। वह यह मानकर चलता है कि इन सुविधाओं के मिलने से उसका कल्याण होगा, और कल्याण भी थोड़ा नहीं, अपरिमित होगा।

अपनी इन सब चाहों की पूर्ति वह पृथिवी से चाहता है। पृथिवी से इसलिए कि वह माता है और माता अपनी सन्तान की सब कामनाओं को पूरा करती है। वह सदैव सन्तान की कल्याणकामना भी करती है।

साधक अपनी इष्ट देवता में उन्हीं गुणों की कल्पना करता है जिनकी वह अपने लिए कामना करता है। उन गुणों को पाने के लिए वह गुणानुवाद करता है। ऋग्वेद की यही शैली है। ऋक् (अर्चन) शब्द से स्पष्ट है कि ऋग्वेद की शैली पूजा की, अर्चना की है।

पूजा क्या है ? पूरना और जन्म देना, अर्थात्, इष्ट देवता के गुणों से स्वयं को पूर्ण कर लेना और अपने भीतर नए गुणों को जन्म देना। अर्चना क्या है ?

इष्ट देवता के प्रति श्रद्धा-समन्वित होना। श्रद्धा भी 'श्रत्+धा' है। अर्थ है, पूर्णता के लक्षण धारण करना। अपनी इष्टदेवता को जिन गुणों के कारण आराध्य या श्रद्धेय मानते हैं उन गुणों को अपने भीतर धारण करना श्रद्धा है।

साधक जिन गुणों को इष्ट देवता में निविष्ट मानता है उनके लिए उसका मन उस देवता में अभि-निवेश करता है, रुचिसम्पन्न होता है, अनुरक्त होता है।

एक कहावत है, धरती सुख-धरती, मंगल करती। इस कहावत का आधार यही मन्त्र ज्ञात होता है। धरती माता से कहा गया है कि हे धरती माता! तुम सुखकारिणी हो, सुखस्वरूपा हो, सुखदायिनी हो। हमें सुख चाहिए। इसलिए तुमसे सुख पाने का रहस्य जानना चाहते हैं।

धरती निष्कण्टक हो जाए, यह दूसरी कामना है। धरती तो कुश-कण्टकों से भरी होती है। वह निष्कण्टक तब हो सकती है जब सारे कण्टकों को उठाकर उनकी बाड़ लगा दी जाए अथवा कुचल दिया जाए। यह काम साधक को ही करना है। वह अपनी गली को इतना स्वच्छ कर सकता है कि उस गली में से निकलने वाला प्रत्येक व्यक्ति कांटों से पीड़ित न हो, स्वर्ग-सुख प्राप्त करे।

पृथिवी नि-वेशनी बने। उसको माता कहकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया। मन का अभिनिवेश उसमें हो गया। अब वह निवेशनी (नि-वेश कराने वाली) क्यों नहीं बनेगी? साधक उस पर अपना घर बनाकर रहेगा। वह बसने की सुविधा देगी।

अनेकधा सुख-सुविधा प्रदान करने वाली धरती इसे अटूट और अखूट कल्याण प्रदान करेगी। स-प्रथ: का अर्थ है विस्तार युक्त, फैलता हुआ। पृथिवी शब्द का अर्थ है, फैलने वाली। वह निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाला कल्याण प्रदान करके अपने पृथिवी नाम को सार्थक करेगी।

□

राष्ट्रभक्त का कर्तव्य

सं वो मनांसि सं व्रता, सम् आ-कूतीर् नमामसि।
अमी ये वि-व्रता स्थन, तान् व: सं नमयामसि॥

अथर्ववेद ३.५.८

१ (व: मनांसि सम्) तुम्हारे मन एक/मिले हों।

२ (व्रता सम्) [तुम सब] एक-से व्रती हों।

३ (आ-कूती: सम् नमामसि)[तुम्हारे]अध्यवसाय एक हों—(एक साथ)नमन करें।

४ (ये अमी वि-व्रताः स्थन)—जो ये बुरे-व्रत-धारी हैं;

५ (तान् वः सम् नमयामसि) उनको तुम्हारे लिए एक साथ झुकाते हैं।

मन्त्र का ऋषि अथर्वा है। जो अडिग हो वह होता है अथर्वा। अडिग का दर्शन है इस मन्त्र में। देवता मन है। मन के स्थिर रहने से जीवन में अडिग रहने की प्रवृत्ति पैदा होती है। अडिग संकल्प वाले सब कार्यों में सफल होते हैं।

राष्ट्र और समाज के निर्माण के लिए विजयी वीर पैदा होने चाहिएँ, व्रती वीर पैदा होने चाहिएँ। उनके गुणों को बताते हुए मन्त्र में कहा गया है कि सबके मन मिले हुए हों। आपसी फूट से राष्ट्र और समाज बिखर जाता है। राष्ट्र के सब नागरिक एक मन वाले हों। सब संव्रती हों। एक जैसे संकल्पशील हों। मन मिलेंगे तो संकल्प एक होंगे ही। यदि स्वर बँटे हुए हों, व्रत पृथक्-पृथक् हों तो राष्ट्र की एकता सुरक्षित नहीं रह सकती।

व्रतों को पूरा करने की ललक और शक्ति भी एक होनी चाहिए। आ-कूति का अर्थ है पूरी तरह से मन और शरीर से कार्यसिद्धि हेतु प्रयत्नशील रहना। राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को सक्रिय और सचेष्ट रहना चाहिए। थोड़े से निकम्मे पूरे समूह के प्रयत्नों को विफल कर देते हैं।

काम में लगा हुआ व्यक्ति आत्मगौरव का अधिकारी तो होता है; पर उसे गर्व से बचना चाहिए। नमामसि का अर्थ है—सब नमनशील—विनयशील हों। चाणक्य ने कहा है—सुख का मूल धर्म है, धर्म का मूल अर्थ; अर्थ का मूल राज्य है, राज्य का मूल इन्द्रियजय और इन्द्रियजय का मूल विनय है। वैशाली गणराज्य में गणनायक को विनयधर कहा जाता था। राष्ट्र में सब विनयशील हों। मिथ्या अभिमान किसी को छुए तक नहीं।

कुछ लोग शिथिलता के कारण अ-व्रती हो सकते हैं। ऐसे लोग काम से जी चुराकर राष्ट्रीय सामूहिक संकल्प को कमजोर करते हैं। उनका पता लगा कर, उनको समझा कर, उनके हृदय को प्रभावित करके उन्हें सही रास्ते पर लाया जाए। यह दायित्व कौन निभाए ? वही निभाए जो समझदार है, राष्ट्रभक्त है और राष्ट्र को सुदृढ़ देखना चाहता है। उसका यह गुरुतर दायित्व है।

सब लोगों की संवेदना और समझ एक जैसी नहीं होती। उत्कट राष्ट्रभक्त राष्ट्रीय एकता के महत्त्व को समझते हैं। उनका काम है राष्ट्रीय एकता के व्यवधानों को दूर करें। सबको एकचित्त करें। सबको व्रती—वीर बनाएँ। सबको विनयशील बनाएँ। जो अव्रती और दुर्विनीत हैं उनको समझा-बुझाकर या दण्डित करके व्रती और विनयशील बनाएँ। यह राष्ट्रधारक का, राष्ट्रभक्त का अनिवार्य उत्तरदायित्व है।

□

प्रिय बनने की चाह

प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्, होता मन्द्रो वरेण्यः ।
प्रियाः स्व्-अग्नयो वयम् ।। ऋग्वेद १.२६.७

१ (विश्-पतिः, होता, मन्द्रः वरेण्यः) प्रजा-पालक, आह्वानकर्ता, आनन्दस्वरूप श्रेष्ठ [अग्नि]

२ (नः प्रियः अस्तु) हमारा प्रिय हो।

३ (सु-अग्नयः वयम् प्रियाः) सु-अग्नियुक्त [होकर] हम [भी] प्रिय [बनें]।

इस मन्त्र में देवरात-शुनःशेप ने अपनी, अग्नि-धर्मा बनने की चाह प्रकट की है। स्तोता अग्नि के गुणों से सुपरिचित है। इसलिए वह अग्नि-धर्मा बनना चाहता है। प्रकृति ने तो उसे आग्नेय बनाया ही है। वह जो खाता है वह जठराग्नि में पकता है। रक्तसंचार तभी तक होता है जब तक उसमें अग्नि की ऊष्मा है। शरीर तभी तक अस्तित्व में है जब तक कि उसमें सुनिश्चित तापमान है। अग्नि शान्त हुआ कि शरीर का अस्तित्व समाप्त हुआ। इसलिए 'सु-अग्नि' बनने की चाह का औचित्य है।

सु-अग्नि बनने का फल होता है—प्रिय बन जाना। साधक की चाह है कि हम सु-अग्नि बनकर—अग्निधर्मा बनकर उस अग्रणी, परम प्रभु के प्रिय बन जाएँ। प्रेम या प्रियता का कार्यव्यापार अकेले-अकेले नहीं होता। चाह इकतरफा नहीं होती। हम उसके बनें, इसके पहले आवश्यक है कि उसको अपना प्रिय बनाएँ। कितना प्रिय बनाएं? तुलसीदास कहते हैं कि—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहिं मोहिं राम।।

वह हमारा प्रिय हो ऐसा जैसे कामी व्यक्ति को स्त्री प्रिय होती है अथवा लोभी व्यक्ति को पैसा प्रिय होता है। वह अग्रणी प्रभु हमको प्रिय हों और हम सु-अग्नि बनकर उसके प्रिय हों।

उस प्रभु को अपनी विशेषता के कारण प्रिय बनाना चाहता है साधक। उसके चार विशेषण आए हैं मन्त्र में। उसके अपरिमित गुणों में से मन्त्रद्रष्टा साधक को यहां चार गुण अभिप्रेत हैं। उन गुणों को अपने भीतर पैदा करके वह उस प्रिय को अपना बनाएगा और उसका प्रिय बन जाएगा।

प्रथमतः अग्नि 'विश्-पति' है—प्रजा-पालक! सारे चराचर प्राणी उसकी प्रजाएँ हैं। वह उन सबका पालन करता है। उसकी इस क्षमता को देखकर साधक भी प्रजापालक बनना चाहता है।

अग्नि को 'होता' कहा गया है। वह देवताओं का मुख है। वह यज्ञ में आहुति ग्रहण करने के लिए सब देवों का आह्वान करता है। देव प्रभु की दिव्य विभूतियों के नाम हैं। जिस गुण को साधक अपने भीतर धारण करना चाहता है उसी गुण वाली विभूति का वह अपने लिए आह्वान करता है।

अग्नि 'मन्द्र' है, आनन्दस्वरूप है। उसका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। उसके सत् और चित् से अधिक, उसके आनन्द-रूप की महिमा है। अपने गुणों से वह 'वरेण्य', अर्थात्, वरण करने योग्य भी है।

इन चार गुणों वाले अग्नि को अपना बना लेने की और स्वयं को उसका बना देने की चाह है। यह चाह तब पूरी हो जब साधक यजमान स्वयं प्रजा-पालक बने, देवों को पुकारने वाला बने, आनन्दी जीव बने और श्रेष्ठ बने।

□

बुरा मत सोच, बुरा मत देख

भद्रं वै वरं वृणुते, भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्, बहुत्रा जीवतो मनः॥

ऋग्वेद १०.१६४.२

१ (वै भद्रं वरं वृणुते) निश्चय ही [वरण करने योग्य] वर को [ही] वरते हैं।

२ (भद्रं दक्षिणं युञ्जन्ति) कल्याणकारी दक्षिण को [ही] प्राप्त करते हैं।

३ (वैवस्वते चक्षु भद्रम्) विवस्वान्-पुत्र के विषय में चक्षु कल्याणकारी [हों]।

४ (जीवतः मनः बहु-त्रा) जीवनधारी को मन बहुत स्थानों पर [मंगल-विधान करे]।

मन्त्र के ऋषि अंगिरा-गोत्रिय प्रचेता हैं। 'प्र-चेता' का अर्थ है—प्रकृष्ट-चेतना-सम्पन्न। देवता का नाम 'दुःस्वप्ननाश' दिया गया है। स्पष्ट है कि बुरे सपनों को नष्ट करने के लिए यह प्रकृष्टचेतना-सम्पन्न का दर्शन इस मन्त्र में विद्यमान है।

बुरे सपने क्यों आते हैं? बुरे सपने बुराई पाल बैठने के कारण आते हैं। जब कोई व्यक्ति बुरे विचार करने लगे, बुरे काम करने लगे तो उसके मन में बुरी महत्त्वाकांक्षाएँ जागने लगती हैं। उन्हीं का फल बुरे सपनों के रूप में प्रकट होता है।

आगे बढ़ने का सबको जन्मजात अधिकार है। जीवन का संविधान-वेद व्यवस्था देता है, उद्-यानं ते न अव-यानम् अर्थात् तुम्हारे लिए केवल उन्-नति अव-नति नहीं। आगे अपने पुरुषार्थ से बढ़ें, यह बहुत अच्छी बात है; पर किसी

को टाँग मारकर, जान-बूझ गिराकर बढ़ें, यह अच्छी बात नहीं है।

कुछ लोग सोते-सोते सपने देखते हैं तो कुछ दिन में कल्पनालोक में खोकर दिवा-स्वप्न देखते हैं, अनेक कल्पनाओं में खोए रहते हैं। प्रचेता—प्रकृष्टचेतना-सम्पन्न, सतत जागरूक व्यक्ति न दिवा-स्वप्नों में खोया रहता है, न रात्रि में ही बुरे सपने देखता है।

प्रचेता का दर्शन है—भलाई ही भलाई देखो, भलाई ही करो; प्रतिफल भलाई के रूप में मिलेगा। अच्छाई के मार्ग में कठिनाइयाँ आ सकती हैं; उन पर विजय प्राप्त करें।

विवस्वान् सूर्य का नाम है। मनु विवस्वान् के पुत्र हैं। विवस्वान के पुत्र यमराज भी हैं। मनु के पुत्र मानव हैं जो यमराज के अनुशासन में जीते हैं। यमराज मौत के देव माने गए हैं। इसी लिए वे जीवन के भी देव हैं। जीवन के देव के लिए जीवन को सार्थक बनाओ—आँखों से भलाई देखो, बुरा मत देखो।

जब भलाई देखेंगे तो भले की ही चाह होगी, भला ही करेंगे और भला ही फल मिलेगा। 'दक्षिण' का अर्थ है दक्षिणा का फल। परिश्रम का सुफल मिलता ही है।

मनुष्य ही नहीं, सभी जीवधारी अनेक प्रकार की इच्छाओं में खोए रहते हैं। समझदार वह है जो सबकी भलाई में, सबके कल्याण में लगा रहे। सोचे भी वही जो उसे करना है। हर समय भलाई की बात सोचेगा तो बुराई उपजेगी ही नहीं। बुराई नहीं उपजेगी तो बुरे सपने भी क्यों आएँगे?

[२]

सम्पूर्ण-जीवन

स रेवाँ-इव विश्पतिर्, दैव्यः केतुः शृणोतु नः।
उक्थैर् अग्निर् बृहद्-भानुः॥ ऋग्वेद १.२७.१२

१ (सः रेवान्-इव, विश्पतिः, दैव्यः केतुः) वह 'रयि-वाला'-जैसा प्रजा-पालक [और] दैव्य [प्रभाव वाला] झण्डा [अग्नि]

२ (नः शृणोतु) हमें [हमारी पुकार को] सुने।

३ (बृहद्-भानुः अग्निः उक्थैः) अतिशय प्रकाशमान् अग्रणी स्तोत्रों के साथ [पुकार को सुने]।

अग्रणी प्रभु के चार विशेषण शुनःशेप-दृष्ट इस मन्त्र में प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम, वह रयिमान् है। रयिवान् हैं तो रयि देते हैं। रयि वह धन होता है जिसका

लोकहित के लिए वि-नियोजन किया जा सकता है। सूम की कमाई नष्ट हो सकती है; पर किसी जरूरतमन्द की जरूरत पूरी नहीं कर सकती। 'रयि' उदार वृत्ति के व्यक्ति द्वारा लोकहित सम्पादित करने के लिए की गई कमाई की संज्ञा होती है। ऐसा धन रयिमान् अग्नि देता है।

अग्रणी देवता का दूसरा विशेषण—विश्-पतिः है। 'विश्' प्रजाओं का नाम नाम है। प्रजाओं का स्वामी होने के कारण परम अग्नि को यह विशेषण मिला है। साधक प्रजावान्—'उत्कृष्ट-सन्तान वाला' बनना चाहता है। उसकी यह इच्छा विश्पति अग्नि पूरी कर सकता है।

व्यक्ति की वित्तैषणा पूरी हो जाए और पुत्रैषणा भी पूरी हो जाए तो उसका ध्यान लोकैषणा की ओर जाता है। वह यशस्वी बनना चाहता है, कीर्ति बढ़ाना चाहता है। यशस्विता की पहचान ध्वजा से होती है। झण्डी देखकर पता चल जाता है कि गाड़ी में कोई मन्त्री आ रहा है। वैशाली के गणराज्य में प्रत्येक नागरिक के आवास पर उसकी सामाजिक स्थिति को प्रकट करने वाली ध्वजा फहरती रहती थी। अग्नि दिव्य प्रभाव वाली ध्वजा की तरह है। वह यजमान को यशस्विता प्रदान करता है।

अग्नि प्रदीप्त होती है तो उसका रंग केसरिया रंग का होता है। उसी से यशस्विता की पोषक केसरिया ध्वजा की कल्पना की गई है। अन्तरिक्ष में बिजली की चमक और द्युलोक में उगते हुए सूर्य का रंग भी केसरिया ही होता है। इसलिए भारत में यश-ज्ञापक केसरिया या भगवा झण्डे की मान्यता है। अग्नि-वर्ण की ध्वजा दिव्यता की चाह जगाने वाली होती है।

अग्नि अपनी रश्मियों से प्रदीप्त होता है—बढ़ता है। साधक भी अपनी वृद्धि चाहता है—तेजस्वी बनकर। अपनी सारी कामनाओं की पूर्ति के लिए और तेजस्वी बनने के लिए प्रशस्ति-गान करता हुआ साधक अपने इष्टदेव अग्नि को पुकारता है। उसे विश्वास है कि वह पुकार सुनेगा। सुनेगा ही नहीं, उसकी कामना को पूरी करने के लिए आश्वासन भी देगा।

एक सम्पूर्ण जीवन जीने की चाह है साधक में। उसकी त्रिविध एषणाओं की पूर्ति भी होगी और वह परम तेजस्विता की प्राप्ति भी करेगा। आधा-अधूरा जीवन जीने से यह सम्भव नहीं है।

रैवत विश्पति केतु
दिव्य, सुनो उक्थ अग्नि
बृहद्भानु से सज्जित।

सूर्यचन्द्र-से कल्याणपथगामी बनें

स्वस्ति पन्थाम् अनुचरेम सूर्यचन्द्रमसाव् इव ।
पुनर् ददता अघ्नता जानता सं गमेमहि ।। ऋग्वेद ५.१५.१५

सूर्य, चन्द्र की तरह कल्याण मार्ग का अनुचरण-अनुसरण करें। तब दान देते हुए (परस्पर) हानि न पहुंचाते हुए, (एक दूसरे के गुणों को) जानते हुए साथ-साथ चलें।

यह समाज-निर्माण का मन्त्र है। 'सं-गमेमहि' का अर्थ है—साथ चलें। साथ-साथ चलें। साथ-साथ चलने से ही समाज बनता है—समं अजन्ते इति समाजः। साथ-साथ रहने से एक दूसरे के प्रति समझ पैदा होती है। साहचर्य-जनित प्रेम पैदा होता है। सारे मानवीय सम्बन्धों का मूल साहचर्यजनित प्रेम ही है।

मनुष्य में साथ-साथ रहने की प्रवृत्ति सहज रूप में विद्यमान होती है। इसको जितना विकास और विस्तार भारत में मिला है उतना संसार में किसी देश या समाज में नहीं मिला। जितने मानवीय सम्बन्धों की कल्पना हमारे देश में मिलती है उतनी किसी देश में नहीं है। पश्चिमी देश स्वयं को सबसे अधिक सभ्य और सुसंस्कृत कहते हैं। पर, उनके यहां कहां है ऐसा सुसंस्कृत और सभ्य समाज ?

सभ्यता का आधार होता है आचार और संस्कृति का आधार होता है विचार। आचार और विचार—दोनों का आधार होता है विश्वास—जो साथ-साथ रहने की पहली शर्त है।

साथ-साथ कैसे चलें ? कैसे रहें ? इसके लिए तीन बातें मन्त्र में बताई गई हैं। पहली शर्त है ददता—देते हुए। एक दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति करते हुए। जो समर्थ है वह उनको दे जिनके पास अभाव है, जिनको अतीव आवश्यकता है। यह प्रतीक्षा न करें कि कोई आएगा, हाथ फैलाएगा—तब देंगे। स्वयं संवेदनशील बन कर दूसरों की आवश्यकता को समझें। समझ कर उसकी पूर्ति करें। इतनी आत्मीयता से दें कि लेने वाले के मन में दीनता-हीनता का भाव पैदा न हो। विश्वास जमे।

समाज-निर्माण का दूसरा आधार है—निर्भयता। सब के मन में यह विश्वास पैदा हो कि कोई, उनको हानि नहीं पहुंचाएगा। अघ्नता का यही भाव है। न किसी की हिंसा करें, न किसी को आतंकित करें कि उनको शारीरिक या मानसिक चोट पहुंचाई जाएगी। ऐसी आशंका तक नहीं हो तभी निर्भयता का भाव पैदा होगा। निर्भयता संस्कृति का लक्षण है। वेद में अनेक मन्त्रों में अ-भय या निर्भय होने की कामना की गई है।

समाज-निर्माण का तीसरा आधार है—जानता—जानते हुए, एक दूसरे को पहचानते हुए होना। अपनी क्षमता को पहचानें और दूसरों की योग्यता और शक्ति को भी पहचानें। ऐसा करने से यह निर्धारित करना सरल हो जाता है कि दूसरों के लिए हम किस प्रकार हित-साधन कर सकते हैं और दूसरों की योग्यता और सदाशयता का क्या लाभ उठाया जा सकता है ?

भारतीय परम्परा समरसता में विश्वास करती है। समानता के नारे लगाने वाले व्यर्थ श्रम करते हैं। हमारे यहां नए आदमी से मिलते ही पहला विचार यह आता है कि इसका क्या हित-साधन करें, इसको कैसे अपना बनाएं ? हम उसके पूरक बन जाना चाहते हैं, उसे अपना पूरक बना लेना चाहते हैं। यही समरसता है। यही बराबरी का भाव है। स्वार्थ सिद्धि के लिए बराबरी कभी नहीं हो सकती —यह समझ लिया जाना चाहिए।

आदान प्रदान करते हुए, किसी को हानि न पहुंचाते हुए, अपनी और दूसरों की शक्ति को, योग्यता को समझते हुए समाज निर्माण में कैसे जुटें ?

मन्त्र के पहले चरण में जुटने की विधि बताई गई है। स्वस्ति या कल्याण के मार्ग का अनुसरण करें। सबका कल्याण चाहें। सबका कल्याण करें। सबके कल्याण में अपना कल्याण समझें।

कैसे करें सबका कल्याण ? किससे सीखें सबका कल्याण करना ? मन्त्र में उपमा दी गई है—सूरज और चांद से। सूर्य और चन्द्रमा की तरह सबका कल्याण करें।

सूर्य या चन्द्रमा किसी के कहने से या किसी के प्रलोभन से प्रकाश नहीं फैलाते। अपने आप प्रकाशित होते हैं। प्रकाश की अजस्र वर्षा करते हैं। जिसको प्रकाश ग्रहण करना हो कर ले।

सूर्य गरमी प्रदान करता है तो चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है। प्रकाश देना दोनों का धर्म है; पर देते अपने-अपने ढंग से हैं। दोनों का अपना अलग-अलग स्वभाव है। अलग-अलग शैलियां हैं काम करने की। सब इनका अनु-चरण, अनु-सरण करते हैं। ये किसी का अनुसरण नहीं करते।

सूर्य चन्द्रमा के प्रकाशित होने का समय भी अलग-अलग होता है। सूर्य दिन को चमकता है और चन्द्रमा रात को। एक दूसरे के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करते। एक दूसरे को रोकते, टोकते भी नहीं। सूरज बड़ा है, चन्द्रमा छोटा। सूरज चन्द्रमा में प्रकाश भरता है। चन्द्रमा प्रकाश को अपना रूप-गुण देकर प्रकट करता है। संसार के सारे कार्य रुक जाएं तो भी सूरज-चांद चमकेंगे। अस्तित्वहीन हो जाएं—यह दूसरी बात है। कोई सूरज की गरमी से बचना चाहे तो छाता लगा ले या छत बना ले। चन्द्रमा की ठण्डक से बचना चाहे तो मोटा ओढ़ना ओढ़ ले।

समाज के सब लोग सूर्य और चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान बनें तो उन्नत समाज बनेगा। सार्थक श्रम करके, आचारवान् बनकर, समाज को उन्नत बनाया जा सकता है। चरित्र के प्रकाश से वे जगमगाएँगे। चारित्रिक श्री से दीप्तिमान् व्यक्तियों से ही भारत और भारतीय-समाज का श्रेष्ठ रूप प्रकट हो सकता है।

सूर्य-चन्द्रमा से प्रेरित हम स्वस्ति-पंथ पर चलें।
करें संगमन दान, अभय औ साधन ज्ञान बनें।

□

आत्म-धन की चाह

वृतेव यन्तं बहुभिर् वसव्यैस्, त्ये रयिं जागृवांसो अनु-ग्मन्।
रुशन्तम् अग्नि दर्शतं बृहन्तं, वपा-वन्तं विश्व-हा दीदिवांसम्॥

ऋग्वेद ६.३.१

अन्वय : बहुभिः वसव्यैः वृता-इव यन्तं त्वे रयिं जागृवांसः अनु-ग्मन्। रुशन्तं, दर्शतं, बृहन्तं, वपा-वन्तं, विश्व-हा दीदिवांसं अग्नि (अनु) ग्मन्।

अर्थ : बहुत से, वसु चाहने वालों के साथ घिरे हुए से, मार्ग पर चलने वाले, तुझसे रयि (पाने) को जागरूक, अनुगमन करते हैं (तुझ) तेजस्वी, दर्शनीय, अभिवर्द्धित, वपन-सामर्थ्य वाले, सदैव दीप्तिमान् अग्नि का।

'वसव्य' का अर्थ है—वसु चाहने वाला। 'वसु-यु' शब्द भी इस अर्थ का वाचक है। अग्नि वसव्य के साथ चलने वाला है। उनसे घिरा रहता है। सब प्राणी वसु की कामना करते हुए उसे घेरे रहते हैं। वह वसुकामियों के बीच में बैठकर सारे प्राणियों को प्रेरित करता रहता है—नए-नए काम करने के संकल्प करने के लिए, नई-नई दिशाएँ खोजने के लिए, नए-नए मार्ग बनाने के लिए।

वे वसव्य जागरूक रहते हैं रयि पाने के लिए। रयि से वसु-ता मिलती है। रयि, अग्नि का अनुकरण करने से प्राप्त होता है। रयि पाने के लिए जागरूक रहो। उससे वसु-ता सिद्ध होगी। वसु-ता सिद्ध होने पर, अर्थात्, वसव्य बन जाने पर सायुज्य प्राप्त होता है।

अग्नि का अनुकरण कैसे करें? उसके गुणों को अपनाने से साधक की जागरूकता प्रकट होती है। मन्त्र में अग्नि के विशिष्ट सम्बोधनों के माध्यम से जिन जिन विशिष्ट गुणों का उल्लेख किया गया है उन गुणों को साधक को अपनाना चाहिए। इससे वह जागरूक होगा और जागरूकता के फलस्वरूप रयि को प्राप्त

करेगा। रयि क्या है ? आत्म-धन। आत्म-धन पाने के लिए अग्नि के उन गुणों को अपनाया जाए जिनका यहां उल्लेख है।

अग्नि का पहला विशेषण है—'रुशन्तम्', जिसका अर्थ है, तेजस्वी। अग्नि प्रकाश और शक्ति का केन्द्र है। दाहकता भी उसका गुण है। वह अनुपयोगी और हानिकारक वस्तुओं को जला देता है। यह उसकी शक्ति ही है। साधक भी अपने व्यक्तित्व के अहितकर पक्ष को नष्ट करे। पापवृत्तियों को दूर करे। सद्वृत्तियों का विकास करे। ओजस्वी और तेजस्वी बने।

'दर्शतम्'—अग्नि दर्शनीय है। वह सभी प्रकार के रूपों का जनक माना जाता है। उत्पादकता और निर्माण-कौशल ही अग्नि को दर्शनीय बनाते हैं। साधक उत्पादक श्रम करके दर्शनीय बन सकता है, कलात्मक निर्माण द्वारा दर्शनीय बन सकता है।

अग्नि का एक अन्य विशेषण 'बृहन्तम्' है। इसका अर्थ है अभिवर्द्धमान। बढ़ना, विकसित होना, उत्थान करना जीवन का लक्षण है। जो उत्थान या उन्नति के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता, उसका पतन निश्चित है। जगत् में ठहराव कहीं नहीं है। 'चर एव इति'—चलते ही रहो। तुम्हारे लिए उन्नति ही काम्य है, अवनति नहीं—उद्-यानं ते, न अव-यानम्। प्रत्येक साधक को ब्रह्म-साक्षात्कार करना चाहिए—विकास के बीज की अभि-वृद्धि करना चाहिए।

अग्नि वपन-सामर्थ्य वाला है। अन्न के दाने में अग्नि सक्रिय होता है तभी अंकुरण होता है। साधक भी वपा-वान् बने। सन्तानोत्पत्ति करके कुलवृद्धि करे। प्रजा-तन्तु को तोड़े नहीं—प्रजा-तन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। यज्ञ में वपा-गन्ध की परम्परा है। इसका यही अर्थ है कि अग्नि के वपन-सामर्थ्य को अपने भीतर भरे। स्वयं वाप=बाप बने।

अग्नि को 'विश्वहा दीदिवांसम्' कहा गया है। अर्थ है—सर्वदा—सब दिन दीप्तिमान्—प्रज्वलित। अपने भीतर विचार करने की, विवेक प्रदर्शित करने की, काम करने की जो ऊर्जा विद्यमान है उससे सदा दीप्तिमान् रहे—राष्ट्र (प्रकाशमान्) बने। अपने भीतर की आग को कभी शान्त न होने दे। भीतर के आत्मतत्त्व को प्रकाशित होने दे। यदि ऐसा नहीं होने दिया गया तो जीवन ही व्यर्थ हो जाएगा।

अग्नि के इन विशिष्ट गुणों को अपना कर साधक वसव्य या वसु-यु बने। अग्नि स्वयं वसु है। वसु-धर्मी बनने से वह श्रेष्ठ धन प्राप्त होगा जो आत्मा के नाम से जाना जाता है। वह बाहरी आडम्बर से नहीं मिलता। आन्तरिक ऊर्जा को जगाने से ही मिलेगा।

बुद्धि की साधना

मित्रं हुवे पूतदक्षं, वरुणं च रिशादसम् ।
धियं घृताचीं साधन्ता ।। ऋग्वेद १.२.७

अर्थ : पवित्रता में दक्ष मित्र को मैं पुकारता हूं और शत्रुनाशक वरुण को (मैं पुकारता हूं) । (वे) स्नेह-सिक्त बुद्धि को साधें ।

मन्त्र-द्रष्टा मधुच्छन्दा की पुकार है बुद्धि को साधने के लिए। बुद्धि की साधना कैसे की जाए ? मित्र और वरुण को पुकारें । उनकी सहायता लें ।

मित्र को 'पूतदक्ष' कहा गया है। पूत-दक्ष कौन ? पूत=पवित्र और दक्ष=कुशल। वह पवित्र और कुशल है । इसलिए पवित्र और कुशल बनने पर ही ये बुद्धि-साधना में योगदान देंगे । मित्र की विशेषता को समझना होगा ।

'पूत-दक्ष' का अर्थ 'पूत (बनने) के लिए दक्ष भी हो सकता है । कार्य-कुशल बनकर पवित्र बनें। अपने गुण-स्वभाव के अनुसार जिस कार्य को रुचिपूर्वक अपनाया है उसे समर्पित भाव से करें। उसके विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करें । इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि उस कार्य को सर्वश्रेष्ठ कार्य—यज्ञ मानकर या बनाकर सम्पन्न करें ।

'पूत-दक्ष' का अर्थ 'पवित्र (कार्य) में दक्ष' भी हो सकता है । जिस कार्य को हाथ में लें उसे पवित्र मानें और पूरे मनोयोग से सम्पन्न करें। उसको प्रभु का का कार्य मानकर पूरा करें । यज्ञ बना कर पूरा करें ।

पवित्र से पवित्र और अच्छे से अच्छे काम में भी बाधाएँ आती हैं । उनसे घबराने की आवश्यकता नहीं है। मित्र के सहयोगी वरुण देव बाधाओं को दूर करने वाले हैं। संकटों से उबारने वाले हैं। बाधाएँ खड़ी करते हैं शत्रु । वरुण शत्रुओं को परास्त करने वाले हैं ।

बुद्धि की साधना क्या है ? प्रत्येक कार्य को विवेकपूर्वक करना ही बुद्धि की साधना है। सामने हजार काम हो सकते हैं। उनमें से प्राथमिकता तय करना बुद्धि का काम है। काम करने की सौ विधियाँ हो सकती हैं। उनमें से विवेक से निश्चित करना होगा कि किस विधि से काम करें ।

मित्र और वरुण को बुद्धि-योग की साधना के लिए पुकार रहे हैं । मित्र पवित्र कार्य में दक्ष बनाए, और वरुण कार्य में बाधक तत्त्वों और शत्रुओं को दूर हटाए, पराजित करे ।

बुद्धि का विशेषण 'घृताची' प्रयुक्त हुआ है—घृत-सिक्त, स्नेह से भरी हुई, करुणा-प्रेरित। परार्थ और परोपकार की भावना बुद्धि को सत्कार्य में लगाती है। पवित्रता और दक्षता का आधार बुद्धि की स्नेहिल प्रवृत्ति ही होती है । मित्र और वरुण को पुकारें। उनकी प्रेरणा से उनके अनुशासन में व्यक्ति को कर्तव्य-कर्म करके सुकर्मा होने का अवसर मिलेगा ।

सौन्दर्य-दृष्टि

ते भद्रायां सं-दृष्टो रणयन्त । ऋ. ६.१.४
[हे अग्ने !] तेरी कल्याणकारी सौन्दर्य-दृष्टि में रमें ।

यह भरद्वाज ऋषि का दर्शन है। अग्रणी—अग्नि से प्रार्थना है। वेद में प्रार्थना-शैली में जीवन के रहस्यों का व्याख्यान कर दिया जाता है। यहां इसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

जीवन में एक पक्ष प्रेय का है, दूसरा श्रेय का। संसार में प्रेय के प्रति आग्रह तो सर्वत्र देखने को मिलता है; पर हमारे भारत में प्रेय को श्रेय से अनुशासित किया जाता रहा है। इस क्रम को निःश्रेयस् तक आगे बढ़ाया जाता है।

अग्नि का धर्म रूप है। रूप दृष्टि का विषय है। इसलिए संदृष्टि—सम्यक् दृष्टि या सुन्दर दृष्टि का अग्नि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। मनुष्य जीवन जीने के लिए अनेक प्रकार की दृष्टियाँ अपना सकता है। वह स्वतन्त्र है। परमात्मा का स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। वह चाहे तो सत् या सत्य के माध्यम से उसके चेतनामय और और आनन्दमय रूप को पा ले। चित् या चेतनामय रूप के माध्यम से सत्य और आनन्द को प्राप्त करने का विधान कर सकता है। आनन्दमयी दृष्टि से सत्य और चित् को पाने की बात भी सोच सकता है।

यहां जिस सं-दृष्टि का वर्णन है वह सुन्दर और आनन्दमय रूप के माध्यम से जीवनलक्ष्य को पाने का आग्रह है। सं-दृष्टि का विशेषण 'भद्रा' (या यल्याणकारिणी) प्रयुक्त हुआ है। जीवन में ऐसी सौन्दर्य-दृष्टि अपनाएं जिसमें कल्याण की भावना जुड़ी हुई हो, अपना कल्याण और सबका—प्राणिमात्र का कल्याण भी।

सृष्टि का कण-कण परम प्रभु के प्रकाश से आलोकित है। सर्वत्र उसी का सौन्दर्य व्याप्त है। इस सौन्दर्य को देखें। इसके कल्याणकारी रूप का अनुभव करें। उसके इस आनन्दमय रूप में रमें। रमें ही नहीं, इसका अनुसरण भी करें—जो अनुभव पाएं उनको दूसरों को बताएं भी। जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है आनन्दमय, सुन्दर इष्ट देव को पा लेना। इतने स्वार्थी न बनें कि इस उपलब्धि पर आत्म-केन्द्रित हो जाएं। सबको बताएं। सबको साथ लें। सबको आनन्दसागर में अवगाहन करने के लिए आमन्त्रित करें।

ज्ञान में, कर्म में, विचार में, विश्वास में—सर्वत्र सुन्दरता ही सुन्दरता व्याप्त हो। इस तरह आनन्द की सृष्टि हो। यह सृष्टि प्रभु की रचना है। वेद की शब्दावली में, प्रभु का अजर-अमर काव्य है यह संसार। काव्य को समझने के लिए तो सौन्दर्य-दृष्टि ही सहायक हो सकती है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर होता है। जीवन में इस सुन्दरता को भर लें। प्रभु से एकाकार होने के लिए सुन्दरता

ही सबसे सरल और मनोरम उपाय है। माना कि सब कुछ सुन्दर नहीं है। संसार में दुःख भी है; पर सुख दुःख का अनुभव करने से ही आकर्षक बनता है—दुःखं हि दुःखान्य् अनुभूय शोभते। कामना है कि अग-जग में व्याप्त प्रभु का सुन्दरतम रूप जन-जन की आराधना का विषय बने।

चरम कल्याणकारी रस

यो वः शिव तमो रसस् तस्य भाजयतेह नः।
उशतीर्-इव- मातरः॥ अथर्ववेद १.५.२

जो तुम्हारा कल्याणकर रस है उसका हमें भागीदार बनाओ जैसे चाहती हुई माताएँ (पुत्रों को)।

मन्त्र आपः को समर्पित है। आपः जलों का नाम है। जलों को दिव्य और ओषधिगुण-युक्त माना गया है। वेद के अनेक मन्त्रों और सूक्तों में दिव्य आपः (आपो देवीः) की स्तुति की गई है। उनको माता कहा गया है। गंगा और यमुना को माता कहने की प्रेरणा वेद की परम्परा से ही मिली है।

मन्त्र में उपमान वाक्य है—उशतिः-इव मातरः, अर्थात्, उशती (अभिलाषा करती हुई, उत्कट चाह वाली) माताओं की तरह। माता सदैव अपनी सन्तान की कल्याण-कामना करती है। उसका पोषण करती है, उसको संस्कार देती है और चाहती है कि उसकी सन्तान का मार्ग निष्कंटक हो; कठिनाइयां आएँ तो वह उन पर विजयी हो।

जीवन-संघर्ष में माता अपने पुत्र या पुत्री को पूरी तरह से तैयार करके भेजती है। चाहती है कि वह बड़ा से बड़ा अच्छा से अच्छा काम करे। कहीं उसको पराजय का मुँह नहीं देखना पड़े। उसका बाल भी बांका न हो। माता की मंगल-कामनाएं उसे सचमुच कठिनाइयों से जूझते समय शक्ति प्रदान करती हैं।

दिव्य जलों में भी हमारे पूर्वज ऋषियों ने मातृत्व के गुण देखे हैं। उनको ओषधि माना जाता है। ओषधि का अर्थ है—जीवन-रस को धारण करने वाली। जल तो है ही रस। आधुनिक विज्ञान जल को ऑक्सीजन और हाईड्रोजन का सम्मिश्रण मानता है। ये दोनों जीवनदायी होते हैं, विशेषतया ऑक्सीजन। सांस के साथ सब प्राणी ऑक्सीजन को ग्रहण करते हैं।

जल रस होते हैं। उनको धारण करने से पृथिवी रसा होती है। रसा होने से पृथिवी को माता कहा गया है। जल में उत्पादक और पोषक गुण होते हैं। इसीलिए वह जीवनदायी होता है, कल्याणकारी होता है।

यही कहा गया है कि जल कल्याणकारियों में भी सर्वश्रेष्ठ है—चरम कल्याणकारी है। जलों में जो चरम कल्याणकारी रस तत्त्व विद्यमान है वह हमारे जीवन का भी कारण है। जल का अर्थ है—ज = जन्म देने वाला + ल लीन करने वाला। उस रस की विद्यमानता में ही हमारा जीवन सुरक्षित रहता है। उसके अभाव में जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

मन्त्र में प्रार्थना है कि जलों का वह चरम कल्याणकारी रस हमें मिले। हम उसके भागीदार हों। इस शरीर में 90 प्रतिशत भाग तो जल ही है। उस जल में जीवनदायी रस विद्यमान होगा तो शरीर और जीवन सुरक्षित रहेगा। अन्यथा वह क्षीण हो जाएगा, जीवन नष्ट हो जाएगा।

यों, तो शरीर में जल एवं अन्य तत्वों का संयोग एक प्राकृतिक व्यवस्था है। उस व्यवस्था के अन्तर्गत ही जीवन चल रहा है। यह व्यवस्था बिगड़ी, कि जीवन समाप्त हुआ। इस व्यवस्था के चलाने वाले को ही हम ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा कहते हैं।

पर, हमारी दृष्टि प्रकृति के करिश्मे को ही नहीं देखती; कुछ और भी देखती है। अपने सामाजिक परिवेश का प्रत्यक्षीकरण करती है। उसी से जलों में मातृत्व की कल्पना है। जलों में जीवन-पोषक रस है वैसे ही जैसे माता में होता है। जल स्थूल है। उसके गुणों के माध्यम से माता के गुणों का बखान किया गया है।

जल जिस जीवनरस को शरीर में भरते हैं उनको माता भी भरती है। जल के बिना किसी भी प्राणी का अस्तित्व नहीं रह सकता। यही जलों का मातृत्व है।

मन्त्र में दो प्रतिपाद्य हैं—एक, माता की महिमा का बखान और, दूसरा, जलों के गुणों की ओर संकेत। जीवन में कितने ही संकट आ जाएँ—माता की गोद में वे सारे संकट तिरोहित हो जाते हैं। वैसे ही, जल संसार की सारी बीमारियों को दूर करने में समर्थ हैं। जल-चिकित्सा का तो आधार ही यही विचार है। चिकित्सक पूरे विश्वास के साथ जलों का रोगनिवारणार्थ उपयोग कर सकता है।

स्पष्टतः कल्याण की दो दिशाएँ हुई; पहली, जल के स्थूल रूप से नीरोगिता प्राप्त करना और दूसरी मातृत्व—माता के वात्सल्य से जीवन का उत्कर्ष खोज कर आत्मकल्याण करना। आत्मकल्याण साध्य है—दोनों तरह से, दोनों उपायों को अपना कर—

शिवतम तेरा रस
पात्र बना लेना मुझे
चाह जननी ज्यों।

इन्द्र की शक्ति का वरण

इन्द्रियाणि शतक्रतो ! या ते जनेषु पञ्चसु ।
इन्द्र ! तानि त आ वृणे । ऋग्वेद ३.३७.९, अथर्ववेद २०.२०.२

अन्वय : शतक्रतो ! पञ्चसु जनेषु या ते इन्द्रियाणि । इन्द्र ! ते तानि आ-वृणे ।

अर्थ : हे सौ क्रतुओं वाले इन्द्र ! पंच जनों में जो तेरी इन्द्रियां हैं; उन तेरी [इन्द्रियों] को वरण [या स्वीकार] करता हूं।

ऐश्वर्य और प्रभुता के कारण परमात्मा का एक नाम इन्द्र भी है। परमात्मा अनेक प्रकार से अपने भक्तों का उपकार करता है। जिन-जिन रूपों से वह संसार का सञ्चालन करता है, उनको देव कहा जाता है। इन्द्र देवों में प्रधान है, इसलिए उसे देवराज भी कहा जाता है। मन्त्र में देवराज इन्द्र की प्रभुता का वर्णन है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड में इन्द्र अपना प्रभाव-विस्तार करता है। उसके साधन हैं इन्द्रिय। इन्द्रिय का अर्थ है—इन्द्र की [शक्ति]। इन्द्र की शक्ति विभिन्न रूपों में जीवन की क्रियाविधियों को निर्दिष्ट करती हैं। यह शक्ति ही इन्द्र को शतक्रतु बनाती है। शतक्रतु का अर्थ है—सौ कर्म करने का सामर्थ्य। ऐसा सामर्थ्य इन्द्र को इन्द्रियों से प्राप्त होता है। ये इन्द्रियां पंचजनों में व्याप्त होती हैं।

मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र ! तुम्हारी इन्द्रियों (के सामर्थ्य) का मैं वरण करता हूं। किन इन्द्रियों का ? जो पंच-जनों में व्याप्त हैं। शरीरस्थ पंच-प्राण पंचजन है। जिन पंचतत्त्वों से शरीर निर्मित हुआ वे भी पंच-जन है। इन्द्र की शक्ति पंचतत्त्वों से बने इस पिण्ड—शरीर में व्याप्त है, शरीर के धारक पंच प्राणों में व्याप्त है—पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रिय के रूप में व्याप्त है। उस इन्द्रिय या ऐन्द्रशक्ति को वरण करने की बात कही गई है, कामना की गई है।

जीवनावधि सौ वर्ष की होती है। वेद 'भूयश्च शरदः शतात्' कह कर सौ वर्ष से भी अधिक आयु का विधान करता है। सौ वर्ष का अर्थ नब्बे वर्ष भी हो सकता है और सौ से दस वर्ष अधिक भी हो सकता है।

सौ वर्ष तक अदीन होकर जीने के लिए आवश्यक है कि पंचजनों का सामर्थ्य बना रहे। पंचभूत-निर्मित शरीर स्वस्थ एवं कर्म करने में समर्थ बना रहे। ज्ञानेन्द्रियों की संवेदनशीलता यथावत् कायम रहे। कर्मेन्द्रियों का कर्म-सामर्थ्य भी कम न हो। पूरा जीवन सुखमय और आनन्दमय हो। सौ-सौ क्रतुओं का सामर्थ्य धारण करने वाला इन्द्र ही मानव के सौ वर्ष के जीवन को सामर्थ्यवान् बना सकता है। उसके सामर्थ्य को इसीलिए अपने जीवन में भर लेना चाहते हैं।

समाज भी पंचजन से बना हुआ है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं पंचम

निषाद वर्ण। इनमें सुव्यवस्था और सामञ्जस्य बनाए रखने के लिए इन्द्र की शक्ति की आवश्यकता है। दैवी व्यवस्था में सब देवता अपने-अपने गुणों से राजमान हैं। उनका नेतृत्व देवराज इन्द्र करता है। परिवार, समाज और राष्ट्र में ऐसी ही व्यवस्था सुचारु रूप से चलाई जा सकती है। इन्द्र की शक्ति को पहचान कर उसको सर्वत्र प्रवर्तित करना आवश्यक है।

शतक्रतो ! जो इन्द्रियां
पंचजनों में रहतीं
इन्द्र ! वरण करूँ मैं।

छिद्र-अन्वेषण

यत् मे छिद्रं मनसो, यच् च वाचः, सरस्वती मन्यु-मन्तं जगाम।
विश्वैस् तद् देवैः सह सं-विदानः, सं दधातु बृहस्पतिः ॥
(अथर्ववेद १९.४०.१)

अन्वय : मे मनसः यत् छिद्रं, च यत् वाचः। सरस्वती मन्यु-मन्तं जगाम, बृहस्पतिः विश्वैः देवैः सह सं-विदानः तत् सं-दधातु ॥

अर्थ : मेरे मन में जो छिद्र, और जो वाणी के—सरस्वती क्रोधयुक्त को गई [हो], बृहस्पति समस्त देवों के साथ सहमत होकर सं-धान कर।

इस मन्त्र में छिद्रों का सन्धान करने का वर्णन है। लोक में कहावत है कि 'छिद्रेषु अनर्थाः बहुली भवन्ति' अर्थात् छिद्र अनेक अनर्थों-संकटों, आपदाओं को जन्म देते हैं। छिद्र कहते किसे हैं? छिद्र का अर्थ है—'काटने वाला, छिन्न-भिन्न करने वाला।' जो कर्म हम करते हैं, उनका फल अवश्य मिलता है। मञ्जिल की ओर कदम-कदम बढ़ते जाएँ तो एक समय ऐसा अवश्य आएगा, जब मञ्जिल को छू लेंगे। इस सहज प्रक्रिया को काट दे उसका नाम है छिद्र। सामान्य भाषा में दोष कहेंगे, रोड़ा कहेंगे, अवरोध कहेंगे।

छिद्रों को, दोषों को, रोड़ों-अवरोधों को खोजा जाना चाहिए। छिद्र हर काम में हो सकते हैं, हर बात में हो सकते हैं, हर व्यक्ति में हो सकते हैं, हर जाति में, हर समाज और राष्ट्र में हो सकते हैं। उनके कारण काम सफल नहीं होते, बात बे-बात हो जाती है, आदमी आदमी नहीं रह जाता। जाति, समाज और राष्ट्र संस्कारहीन हो जाते हैं।

स्पष्ट है कि छिद्रों को खोज-खोज कर समाप्त किया जाना चाहिए। बीमारी का पता चले तो उसका इलाज किया जाएगा। बीमारी का पता ही न

हो तो रोग धीरे-धीरे बढ़ता चला जाएगा और जीवन से सुख-चैन को समाप्त कर देगा।

भगवान् मनु ने कहा है कि छिद्र से धरती नष्ट हो जाती है, छिद्र से चरित्र नष्ट हो जाता है, छिद्र से राष्ट्र नष्ट हो जाता है। इसलिए छिद्रों को खोजें और उनसे बचें। मनु की वाणी को ओषधि-रूपा माना गया है। यदि एक बार उनकी उक्ति के मर्म को समझ लिया जाए और उसके अनुसार आचरण किया जाए तो सभी प्रकार के संकटों से बचा जा सकता है।

इस मन्त्र में मन और वाणी के छिद्रों की बात कही गई है। मन के छिद्र हैं, विचार सम्बन्धी—विचार दोष। वाणी के छिद्र हैं कथनी के दोष। और चूंकि सत्पुरुषों की कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं होता, इसलिए वाक्-दोष का अर्थ हुआ—आचार दोष। आचार और विचार के दोषों का अनु-सन्धान किया जाए और एक भी दोष को सहन न किया जाए। सहनशीलता वैसे अच्छा गुण है; परन्तु दोषों के प्रति सहनशील न होने में ही कल्याण है।

दोनों के अभाव से ही गुण प्रकट होते हैं। इसलिए गुणों की चाह करने वालों को दोषों से दूर ही रहना चाहिए। गुणी की चाह और दोषदर्शन से बेचैनी तभी हो सकती है जब प्रभु ऐसी प्रेरणा दे—सो जानहिं जेहि देहु जनाई। वह जिसको प्रेरणा देता है, वह बात को समझ जाता है कि दोष क्या है और गुण क्या है? प्राणियों के कल्याण की कामना करने वाले उस प्रभु ने मनुष्य को विवेकी इसीलिए बनाया है।

परम प्रभु को यहां बृहस्पति कहा गया है—बृहती का स्वामी अर्थात् प्रगति-प्रदात्री वाणी [और तदनुकूल विकास] का स्वामी—प्रेरक। वह जिस व्यक्ति का कल्याण चाहता है, उस विकास की दिशा बताता है और उसे दिशा में आगे बढ़ने पर आने वाले अवरोधों का ज्ञान कराता है।

जब वह अनुकूल होता है तो सारे देवता अनुकूल हो जाते हैं। वे सब प्रकट करने लगते हैं कि गुण क्या है और दोष क्या हैं? व्यक्ति के भीतर की और बाहर की कमजोरियों को दिखा देता है बृहस्पति—सब देवों से सहमत होकर। जब वह सबको इस तरह से दोषदर्शन में छिद्र-अन्वेषण में कुशल कर देता है तो हमें भी करेगा, इस विश्वास के साथ ऋषि प्रणत होता है उसके समक्ष।

मन में छिद्र और वाणी में जो
मन्युमन्त को जाती सरस्वती!
विश्वदेवों के साथ सहमत
बृहस्पति सम्यक् आ-धान करे॥

दान में उत्साह कम क्यों ?

अव सृजा वनस्पते ! देव ! देवेभ्यो हविः ।
प्र दातुर् अस्तु चेतनम् ।। ऋग्वेद १.१३.११

हे वन के पालक, देव ! देवों के लिए हवि उत्पन्न करो, उपलब्ध कराओ । (हवि-)प्रदाता के लिए उत्साह हो ।

मेधातिथि के इस मन्त्र में दान के लिए दाता के मन में नित नया उत्साह बनाए रखने की बात कही गई है । देने का मन हो और देने को गांठ में कुछ भी न हो तो व्यक्ति कुछ भी न दे पाएगा । इस मन्त्र में आरम्भिक दो चरणों में वनस्पति में समस्त हव्य पदार्थों को प्रचुर मात्रा में पैदा करने और उपलब्ध कराने के लिए प्रार्थना की गई है ।

मनुष्य के लिए दान सबसे बड़ा धर्म है । उपनिषद् में कथा मिलती है कि प्रजापति ने देवों, असुरों और मनुष्यों के लिए उपदेश देते हुए 'द' कहा, जिसका अर्थ देवों के लिए हुआ—दमन करो, जितेन्द्रिय बनो, असुरों के लिए हुआ—दया करो, क्रूरता प्रदर्शित न करो और मनुष्यों के लिए 'द' का अर्थ हुआ—दान करते रहो। दान मनुष्य का धर्म है ।

प्यासे को जल दो । भूखे को भोजन दो । विद्यार्थी को विद्याधन दो । ज्ञान पाना और ज्ञान देना परम धर्म है । धन की याचना करने वाले के लिए धन दो । जो प्रिय पदार्थ हैं वे दूसरों को देते रहो क्यों कि वे उनके भी प्रिय पदार्थ हैं ।

हम भारतवासियों का यह सहज स्वभाव है कि किसी अनजाने आदमी से मिलें तब सबसे पहले यह विचार आता है कि उसका क्या प्रिय करें जिससे उसे अपना बना लें और हम उनके बन जाएं । सबको आत्मीयतापूर्वक अपना बना लेने को परम धर्म माना गया है । किसी जरूरतमन्द की जरूरत पूरी करके ही उसका प्रिय बना जा सकता है ।

जो दाता है उसमें दान के लिए बराबर उत्साह बना रहे । तभी वह सहज धर्म कहलाएगा । वह सदैव जागरूक रहे । यदि वह समझेगा कि वह अपने पास से कुछ दे रहा है तो साधनस्रोत चुक जाने के भय से वह देने में कंजूसी करेगा । पर, उसे ज्ञात हो कि देने वाला प्रभु है, उसका अपना काम तो प्रभु की वस्तु को जरूरतमन्द तक पहुंचाना भर है, तो वह देते हुए थकेगा नहीं ।

रहीम ने इसी आशय से कहा था—

देनहार कोई और है, देत रहत दिन रैन ।
लोग भरम मुझ पर करें, ताते नीचे नैन ।।

दान में उत्साह बने रहने की शर्त यह है कि देने की क्षमता बनी रहे, देने योग्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में मिलते रहें। आज जब जीवन-यापन के साधन कम हो गए हैं तो हर आदमी अपनी जरूरत को पहले पूरा करना चाहता है। दूसरों को देने के विषय में सोच ही नहीं पैदा होता।

दान देने का सामर्थ्य बना रहे, इसके लिए परिश्रम करके उन पदार्थों को जुटाना होगा जो दूसरों की जरूरतें पूरी करने के लिए आवश्यक हैं। परिश्रम तो कर लेंगे; पर प्रभु-कृपा होगी तभी हमें परिश्रम का अभीष्ट फल मिलेगा। इसलिए प्रभु से याचना करनी पड़ती है।

दान नित्य देना चाहिए। नित्य अग्निहोत्र करके देवों को हवि दी जाती है। हवि में वनौषधियां काम में आती हैं। वनस्पति देव से प्रार्थना की गई है कि प्रचुर मात्रा में हव्य पदार्थ पैदा करे, और पैदा ही न करे, हमें उपलब्ध भी कराए। हमें वे सब पदार्थ मिलें—इतना हमें सामर्थ्य प्रदान करे। दुनिया में विभिन्न पदार्थ हैं; पर यदि वे हमारे पास नहीं हैं तो वे हमारे लिए हैं ही नहीं।

हम देंगे तो वही जो हमारे पास होगा। यदि हमारे पास कुछ भी न हो तो सबके लिए मंगलकामना कीजिए। यह भी दान है। दुआ दीजिए। छोटों को आशीर्वाद दीजिए। बड़ों को प्रणामाञ्जलि दीजिए। बराबर वालों को स्नेह दीजिए। मीठे वचन बोलकर सान्त्वना दीजिए।

बाह्य पदार्थों को देने के लिए विवशता हो सकती है; पर स्नेह, सहयोग, दया, करुणा, सहानुभूति, आशीर्वाद, धैर्य आदि मानवोचित गुणों को अपने भीतर विकसित करके उनका लाभ जन-जन को दीजिए। आप दाता ही नहीं, प्र-दाता हैं—श्रेष्ठ, उत्कृष्ट दाता। इस चेतना को बनाए रखिए। प्रभु आपकी इस चेतना को बनाए रखे।

वनस्पते ! देवों हित
हवि रहो सिरजते।
प्र-दाता चेतना रहे।

ज्योतित जीवन काम्य

अस्माकम् उत्-तमं कृधि, श्रवो देवेषु सूर्य !
वर्षिष्ठं द्याम्-इवोपरि ॥ ऋग्वेद ५.३१.१२

१ (सूर्य ! वर्षिष्ठम् द्याम्-इव ऊपरि) हे सूर्य ! अति-तेजस्वी द्यु-लोक को जैसे ऊपर (स्थापित किया है उसी तरह)

२ (देवेषु अस्माकं श्रवः उत्-तमम् कृधि) देवों में हमारे श्रव को उत्तम करो।

यह वामदेव का दर्शन है। गायत्री छन्द में सूर्य को सम्बोधन करके इन्द्र की स्तुति की गई है। सूर्य शब्द का अर्थ है—जन्मदाता। अग-जग का जन्मदाता परम प्रभु है। उसी को इन्द्र कहा गया है। उसका विशेषण है सूर्य जिसे 'चर-अचर का आत्मा' कहा गया है—सूर्य आत्मा जगतश् तस्थुषश् च।

इन्द्र देवों में श्रेष्ठ है, देवराज है। सृष्टि के विकास और संचालन में उसका अपूर्व योगदान है। उससे श्रव (ज्ञान) की प्रार्थना की गई है। सूर्य-रूप में वह सर्जना कर सकता है। इसलिए ज्ञान को सर्वोपरि—उत्तमोत्तम रूप में प्रस्तुत करे। √श्रु धातु से श्रवः शब्द बनता है। श्रु से श्रुति भी बनता है। श्रुति का अर्थ वेद है। भारत में परम्परा से यह मान्य है कि वेद के लिए श्रम या वेदसम्मत श्रम ही श्रम है। श्रुति और श्रवः पर्यायवाची शब्द हैं। साधक वेदाभ्यास करके उसके अनुसार जीवन जीने को कृत-संकल्प हो।

श्रव या वेदज्ञान जितना विकसित होगा, श्रम और कर्म में उतनी ही रुचि और निष्ठा बढ़ेगी। वह उथला या दिखावे-भर को न हो। उत्तम से उत्तम हो। वेदज्ञान तो अपरिमित है। 'अनन्ता वै वेदाः' सूक्ति प्रसिद्ध है। उसमें से अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार कोई भी जीवनसूत्र चुनकर उसके अनुसार जीवन जीने का उपक्रम किया जाए। वही गति बने और वही लक्ष्य बने। इस तरह का श्रम देवों को साधक के साथ सख्य के भाव से जोड़ देता है। बिना श्रम किए देवता सखा नहीं बनते—न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।

जब इन्द्र कामनाओं के वर्षक द्युलोक को सर्वोपरि बनाता है, उसमें सूर्य को चमका कर प्रकाश भर देता है तो जीवन में ज्ञान को सर्वोपरि क्यों नहीं बना सकता? ज्ञान से जीवन को प्रकाशित क्यों नहीं कर सकता? ज्ञानलोक को कर्म-प्रेरणा का विषय क्यों नहीं बना सकता? ज्ञान की साध को जीवन की सर्वोच्च साध क्यों नहीं बना सकता?

जीवन कर्म करने के लिए मिला है; पर जो काम किया जाए वह वेदसम्मत हो, वेदज्ञान के आलोक से आलोकित हो। ऐसा सज्ञान कर्म वैयक्तिक स्वार्थ की सिद्धि के लिए नहीं हो सकता। उसका लक्ष्य तो सबका हित होगा, सबका कल्याण होगा। समाज में दिव्यता जगाने के लिए होगा। देव तो दान देने वाले होते हैं, प्रकाशमान् और प्रकाशप्रदाता होते हैं। साधक वैसे ही देवत्व को अपना आदर्श बना कर जीवन जीना चाहता है।

ज्ञान-ज्योति सर्वोपरि जीवन ढले सूर्य हे !
ज्योतित ऊपर ज्यों द्यु। (गायत्री छन्द)

□

कामना रथी के लिए

स्थिरा वः सन्तु नेमयः रथा अश्वास एषाम् ।
सुसंस्कृता अभीषवः ।। (ऋग्वेद १.३८.१२)

१ (वः नेमयः स्थिरा सन्तु) तुम्हारी रथ-नेमि स्थिर हो ।
२ (एषाम् रथा अश्वास) इनके रथ और घोड़े
३ (अभीषवः सुसंस्कृताः) लगाम सुसंस्कृत [हो] ।

यह घोर काण्व का दर्शन है । स्तुति की गई है मरुत् की । मरुत् शब्द का अर्थ है रोदन का निषेध । क्षत्रिय हाथ में शस्त्र उठाए तब सर्वत्र सुख और आनन्द की लहर दौड़ जाती है । दुःखी का आर्त स्वर कहीं सुनाई नहीं देता । प्रभु की शक्ति जो मरुतों में निविष्ट होकर रोदन का निषेध करती है, वही शक्ति क्षत्रिय में प्रवेश करके इत्पीड़ितों की पीड़ा दूर करती है ।

मन्त्र में मरुतों से कहा गया है कि उनकी रथ-नेमियां, रथ, अश्व और अश्वों की लगामें, स्थिर और सुसंस्कार युक्त हो । रथ-नेमि और रथ जड़ है, अश्व चेतन प्राणी है, और लगाम मनुष्य के द्वारा साधी जाती है—स्वयं साधे या सारथि साधे । सारथि भी रथारोही की इच्छा का अनुवर्तन करता हुआ लगाम से घोड़ों को नियन्त्रित करता है ।

राष्ट्र में शूर, इषव्य, अतिव्याधी, महारथ क्षत्रिय पैदा होने की कामना निम्न वैदिक राष्ट्रगीत में की गई है—

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।
(यजुर्वेद २२.२२)

मनु ने कहा है कि यदि वर्षा समय पर होती है, सुखावहा वायु चलती है, फसलें अच्छी हैं और प्रजा में सुख-शान्ति है तो मानकर चलना चाहिए कि वहां चरित्रवान् और शक्तिशाली राजा का शासन है अथवा तपस्वी संन्यासी उस क्षेत्र में विचरण करता है ।

इस कथन से व्यंजित होता है कि चरित्रवान् और शक्तिशाली क्षत्रिय के शासन में प्रजा का अभ्युदय होता है और ईति-भीति का प्रभाव नहीं होता । ऐसा ही तब होता है जब जीवनदानी संन्यासी समाज में विचरण करता हुआ लोगों को चरित्र-निर्माण की शिक्षा देता है ।

क्षत्रिय महारथ तब होगा जब उसकी 'रथ-नेमि' सुदृढ़ होगी, रथ सुदृढ़ होगा । रथ को अश्व खींचते हैं । वे निर्बल होंगे तो रथ को कैसे खींचेंगे ? अश्व सबल हो और प्रशिक्षित भी । अभीषवः अर्थात् लगाम अच्छी न हो तो प्रशिक्षित घोड़े को भी अच्छी तरह नहीं चलाया जा सकता । रथ चलाने वाले सारथि और

रथारोही लगाम थाम करके मजबूत और प्रशिक्षित घोड़ों को हांकेंगे तो मजबूत 'नेमि' वाला रथ अपेक्षित गति से चल सकेगा। महारथ सदैव विजय प्राप्त करेगा।

उपनिषदों में कहा गया है कि इन्द्रियां अश्व हैं, मन लगाम है, शरीर रथ और 'आत्मा' रथारोही है जो बुद्धि से लगाम को साधे रखता है। इस मन्त्र को उस दृष्टि से भी सार्थक माना जा सकता है। रथ, अश्व और लगाम सब स्थिर हों और सुसंस्कृत—प्रशिक्षित भी।

स्थिर तुम्हारी नेमि हो
रथ औ' उनके अश्व।
हो लगाम सुसंस्कृत।

उदय-वेला

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोद इहि। (अथर्ववेद ३.४.१)
राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है। वर्च के साथ उदित हो जा।

अथर्ववेद के इस मन्त्रांश में कहा गया है कि राष्ट्र तुम्हें प्राप्त हुआ है; तुम अपने वर्च के साथ उदित हो जाओ।

वेद कई शैलियों में बोलता है। कभी गम्भीर चिन्तन की शैली, तो कभी उत्साहवर्धन की शैली का प्रयोग करता है। कभी कुछ भौतिक शक्तियों की ओर संकेत करता है, तो कभी कर्म का उपदेश देता है। यहाँ उत्साहवर्धक शैली का प्रयोग किया गया है। चिन्तकों ने माना है कि राजा का अभिषेक करने में विवियुक्त होने वाले मन्त्रों में से यह भी एक मन्त्र है।

मन्त्र का महत्त्व इसलिए और बढ़ जाता है कि यह हमारी दिनचर्या का एक अंग बन जाता है। हर माता अपने पुत्र को 'राजा बेटा' बनाना चाहती है। 'राजा' शब्द में √राज् धातु है। इसका अर्थ है चमकना, प्रकाशित होना। प्रकाश के साथ जीने की क्षमता हर मनुष्य में है। इस दृष्टि से हर मनुष्य 'राजा' है। प्रत्येक मनुष्य में राजत्व के गुण विद्यमान हैं। वे कभी न कभी प्रकट होते हैं। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ यदि व्यक्ति को उठने का वातावरण मिलता है और वह उठ पाता है तो यह सभ्यता का विकास हो रहा है।

सबको उठने का अवसर मिलना चाहिए। यह स्वस्थ राष्ट्र का लक्षण है। यदि व्यक्ति उठ नहीं पाता तो सोचना चाहिए कि समाज के चिन्तन में कहीं न कहीं कोई विकृति आ गई है। सामाजिक विषमता हमारी सभ्यता के विकास में

रह रही ख़ामी को दिखाती है। समाज ने यदि अपनी अन्तर्मुखी शक्तियों को जागरित किया तो यह समाज का सही विकास नहीं हुआ। 'समाज' शब्द का अर्थ ही है, साथ-साथ गति करना। जहां सब मिलकर गति करें वह समाज है।

वेद जागरण की वेला का स्मरण कराता है। हमें वर्च के साथ उदित होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उठने का मौका अवश्य आता है; उस दिन वह राजा बनता है। वह वेला कब आएगी, इसका पूर्वाभास हो सकता है। जिसकी योग-जीवनपद्धति होती है वह ऐसे अवसर को पहचान लेता है। सन्त कबीर को भी राम से मिलने का पूर्वाभास हो गया था। वे कहते हैं—

सखि! गावहु मंगलचार, हम घर आए हो राजा राम भरतार।

हर व्यक्ति को स्वयं को जागरित कर लेना चाहिए। सारे संसार को 'आर्य' बनाने का अर्थ यही है कि उन सब मनुष्यों को अपने राजत्व को व्यक्त करने का अवसर देना और पाना है जो राख से ढंकी चिनगारी के समान पिछड़ गए थे। जब जैसा अवसर आए तभी हमें जागरण के लिए तैयार रहना चाहिए। वाल्मीकि का जीवन हमारे सामने है। वह रत्नाकर डाकू था। उसके परिवार वालों को तथा साथियों को उसके सद्‌गुणों के उदय का अनुमान भी न होगा। आयतुल्ला खुमैनी ने ईरान-ईराक-युद्ध में लाखों व्यक्तियों की मौत के बाद युद्धविराम की घोषणा की थी। हर बुरे से बुरे व्यक्ति में भी सद्‌भाव है, अन्तर केवल संवेदना की पकड़ का होता है। एक साथ रखे हुए आकाशवाणी के यन्त्रों में से कुछ तो ध्वनि को बहुत शीघ्र पकड़ लेते हैं और कुछ, कुछ क्षण पश्चात् पकड़ते हैं, जैसे गायें सन्ध्या को चरकर कुछ पहले और कुछ पीछे घर आती हैं।

सही काम, सही ढंग से, सही समय पर होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो जागरण की वेला दूर हो जाती है। आदमी, हमेशा आदमी नहीं होता। उसमें अनेक पशु विद्यमान होते हैं। कभी वह क्रोध में भरकर सर्प की तरह फुफकारता है, तो कभी सिंह के समान गर्जन करता है; कभी हाथी के समान चिंघाड़ता है, तो कभी घोड़े की तरह हिनहिनाता है। उसके भीतर विद्यमान काम, क्रोध, मोह, मद, लोभ, मात्सर्य उससे पशुओं का-सा आचरण करवाते रहते हैं; पर कभी अवसर आता है जब समाज यह चाहता है कि मनुष्य मनुष्य की तरह रहे। यदि वह इस तरह की रहनी रह जाता है तो मानना चाहिए कि वह सच्चा मनुष्य है। उदाहरण के लिए, 'प्रसाद' जी की 'गुण्डा' कहानी का नायक दोषयुक्त होने पर भी सभी को ससम्मान समुद्र से पार सुरक्षित ले आता है। ऐसी संवेदना जागने की बात किसी ने कभी तुलसी में नहीं सोची होगी। नह विलासी तुलसी स्व जागरण की वेला में राम के प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाता है। अंगरेजी-कवि मिल्टन अपनी उदयवेला में स्वाध्याय को समर्पित होकर स्वर्ग से परिचित होते हैं। उन्होंने अनुभव किया कि

कोई आत्मज्योति है जो हमारे भीतर है। उसे जानने के लिए अवसर चाहिए।

हमें कर्म करना है। कर्म का उद्देश्य आत्मज्योति को व्यक्त करना है। जीवन को हम ऐसा पात्र बनाएं कि चहुं ओर विकीर्ण प्रकाश को उसमें भर सकें। हम यह अनुभव करें कि राष्ट्र हमारे पास आ गया है। 'वर्च' हमारे अन्दर छिपी हुई चिनगारी है। जब प्रकाश का पूर्ण बिम्ब सामने उपस्थित हो तो हम चिनगारी को उसमें मिलाकर पूर्ण प्रकाश-बिम्ब को आत्मसात् करें।

हम यह कामना करें कि सब व्यक्तियों को ऐसा अवसर मिले और हम सम्पूर्ण समाज को राष्ट्र बनाएं।

पूरा मन्त्र—

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसा उद् इहि
प्राङ् विशां पतिर् एकराट् त्वं वि राज।
सर्वास् त्वा राजन् ! प्रदिशो ह्वयन्तु
उपसद्यो नमस्यो भव इह ।। अथर्व. ३.४.१

अर्थ—राष्ट्र तुमको प्राप्त हुआ। वर्चस् के साथ उदित हो जा। प्रजाओं के पति, एकराट् तुम पूर्व में विराजित होओ। हे राजन् ! सभी दिशाएं तुमको पुकारें। यहां निकट बैठने योग्य और नमन करने योग्य बन।

८

ज्योति का सेवन

जीवा ज्योतिर् अशीमहि। ऋ. ७.२५.३२
जीव ज्योति को सेवन करें।

प्रस्तुत सूक्ति में जीवन की सामान्य ललक की ओर संकेत किया गया है। जीवाः = (हम) जीवधारी। ज्योतिः = प्रकाश को। अशीमहि = हम सेवन करें। 'अश्' धातु व्याप्ति अर्थ में आती है। हम ज्योति में व्याप्त हो जाएं, उससे भिन्न न लगें।

ज्योति को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य है। हम जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने से पूर्व, 'जीव' तो कहलाएं। श्वास लेना मात्र यदि जीवन का लक्ष्य है तो धौंकनी को भी जीव मान लेना चाहिए। मनुष्य के लिए केवल प्राकृतिक आचरण करना अभीष्ट हो तो पशु-पक्षी भी, किसी सीमा तक, जीव तो है ही। प्रकृति ने हमें विशेष प्रकार की क्षमताएं प्रदान की हैं। यदि हम विशिष्ट गुणों को अर्जित कर प्रदर्शित नहीं करते तो हम श्वास लेते हुए भी धौंकनी के समान गति करते हुए भी पशु-पक्षियों से अधिक नहीं हैं।

यदि हम अपने को जीवित मानें तो ज्योति के सेवन की बात आती है। जहां प्रतिदिन खून बहाया जा रहा हो, हम कैसे कह सकते हैं कि यहां जीव रहते हैं? जिस देश में हिंसा का ताण्डव होता हो उसे महावीर, बुद्ध और गांधी का देश कैसे कहेंगे? जिस राष्ट्र में नारी को पवित्र मानकर मां, बहिन और सहचरी के रूप में स्वीकार करने को मनुष्य लालायित रहता था वहां उसे ठेके पर उठाया जाने लगा है। ऐसे राष्ट्र को जीवित राष्ट्र कैसे कह सकते हैं? देश में कुछ भी होता हो, हमें तो किसी तरह भोगों में रमे रहना है. ऐसी दुष्प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को क्या कहेंगे? आॅस्ट्रेलिया में एक भारतीय को कठोर कारावास इसलिए दिया गया क्योंकि उसने आॅस्ट्रेलिया की छह महिलाओं को भारतीय युवकों के साथ विवाह करने को तैयार किया था ताकि आॅस्ट्रेलिया में वे आराम से जीवन बिता सकें। ऐसी वृत्ति से हम 'जीव' नहीं कहला सकते।

पहले भारत की पहचान भौगोलिक सीमाओं से नहीं होती थी। आज तो हम अपने देश की प्राकृतिक सीमाओं को भी भूल चुके हैं। उत्तर में हमारी सीमा हिमालय से जानी जाती थी। आज हम उस हिमालय को भूल गए जिसे कालिदास ने 'नगाधिराजः देवतात्मा हिमालयः कहा था। दक्षिण में विन्ध्याचल हमारी सीमा था। आज जिसे हम विन्ध्याचल कहते हैं वह, वास्तव में, विन्ध्याचल नहीं है। सुदूर दक्षिण में चले जाएं। भूमध्य रेखा पर, समुद्र के बीच में यह पर्वत था। समुद्र में हलचल होने के कारण वहां के निवासी मध्य देश तक पहुंच गए। मनुष्य को अपनी वस्तुओं से, पदार्थों से लगाव होता है। अतः उन्होंने भारत के मध्यवर्ती पर्वत को विन्ध्य नाम दे दिया। शीघ्र द्रवण (भागने) के कारण इन्हें 'द्रविड़' कहा गया। वस्तुतः वे दक्षिण भारत के निवासी थे; कहीं बाहर से नहीं आए थे। पूर्वी सीमा प्रशान्त समुद्र है। उदयाचल हमारी सीमा में ही आता था। उदयगिरि आज इण्डोनेशिया में है। वहीं हमारा जाना-पहचाना काम्यक वन भी है। पश्चिम में हमारी सीमा थी लालसागर, कृष्णसागर, मृतसागर। अस्ताचल वहीं है। पूरा भारतवर्ष जिसमें विराट् मानव-समुदाय रहता था, हमने भुला दिया है।

हमारे देश की पहचान जिन सांस्कृतिक मूल्यों से होती है उन्हें हमने भुला दिया है। भारत भूमि त्यागभूमि के नाम से जानी जाती थी। यह ठीक है कि हमारे देश में भरत नाम के कुछ विशिष्ट लोग हुए थे। पर, भारत अपने आप में महत्त्व-पूर्ण अर्थ-गरिमा संजोए हुए है। भा = प्रकाश + रत = लीन। जहां के लोग त्याग भाव से रहकर, ज्योति की आकांक्षा से जीवन जीते हैं, वह भारत है।

आज हम अपने व्यक्तित्व, अपने समाज और राष्ट्र को भूल गए हैं। आत्म-विस्मृति के शिकार हो गए हैं। दया, धर्म के विषय में हिंसक पशु भी समझते हैं। तपोवनों में गौ और सिंह एक घाट पर पानी पीते थे। यह बात झूठी नहीं है।

'जृम्भस्व सिंही, दन्तास् ते गणयिष्यामि।' बालक भी सिंहनी के दांत गिनता है ! मनुष्य के संपर्क में हिंसक पशु भी हिंसा छोड़ देते थे। मनुष्य आज हिंसा का अवतार बन गया है। १९९१ में अयोध्या में पशुता का जो नग्न नाच देखने को मिला ऐसा कभी न देखा था। मनुष्यता का विकास न होने के कारण राक्षसों में तो ऐसा आचरण माना जाता है; पर, मानवता के ठेकेदारों द्वारा ऐसे हिंसक कृत्यों को क्या कहा जाए ? हम ज्यों ज्यों सभ्य होने का दावा करते हैं त्यों त्यों पशुता के चरम छोर की ओर बढ़ते हैं। इतिहास में कुवलाई खां की नृशंसता सुनी थी। वह मनुष्यों को मारकर मनुष्यों की हड्डियों से किला बनाता था और उसे मजबूत बनाने के लिए जीवित मनुष्यों की चमड़ी नुचवाकर अस्थियों पर मँडवाता था। ऐसी हिंसक घटनाएँ अब हम अपनी आंखों से देख रहे हैं। फिर भी अपने आपको 'जीव' कह रहे हैं !

प्रकृति ने मनुष्य को विशिष्ट जीव बनाया है। कुछ प्राणियों का सिर शरीर से नीचा होता है। ऊंट; आदि कुछ प्राणियों का सिर शरीर से ऊपर होता है और बार-बार उनको उसे नीचे झुकाना पड़ता है। मनुष्य का सिर नीचा होकर झुकने के लिए नहीं बनाया गया। वह झुकता तब है जब झुकने से और अधिक ऊँचा हो। गुरुजन को प्रणाम करने से हमारा गौरव बढ़ता ही है। इस विशिष्ट शरीर में दो विशिष्ट तत्त्व, हृदय और मस्तिष्क जुड़े हैं। मनुष्य का हृदय जब भावनाओं से तरंगायित होता है तो सारा संसार उसमें समा जाता है। वह प्रेम का मूर्त रूप हो जाता है।

पश्चिम में पहला पाठ पढ़ाया जाता है कि आदमी नश्वर है। पर, भारत में 'अमृतपुत्र' होने का पाठ पढ़ाया जाता है। बुद्ध ने सारनाथ में प्रथम उपदेश में सम्बोधन किया था, 'अमृतपुत्रो ! सुनो।' उच्च कोटि के साधक योगियों के द्वारा समाज उच्च धरातल पर जीवन जीता था। आज जब हमारा देश अपनी पहचान भूलता जा रहा है, हमारा कर्तव्य बन जाता है कि हम वेद के वचन 'जीवा: ज्योतिर् अशीमहि' का चिन्तन करें और ज्योतिर्मय की साधना में प्रवृत्त हों।

है ज्योति तो यहाँ भी, है ज्योति तो वहाँ भी।
कण-कण में जो रमा है, उसकी विभा जहाँ भी।।

वह प्राण ज्योतिमय है वह ज्योति प्राणमय है।
है वह हृदय में बैठा अधरों उसी का स्मय है।।

पलकें बिछाए बैठो, मन को रमाए बैठो।
कर उसको हृदय वेदी पर भासमान बैठो।।

□

अहिंसित मार्ग

अवृकेभिः पथिभिः रायः नु स्वस्ति नः ।* ऋ. ६.४.८

प्रस्तुत मन्त्र में जीवन का व्यवहार बताया गया है। मन्त्र का ऋषि भरद्-वाज है। जो अपने में वाज को भरता है वह भरद्-वाज कहलाता है। 'वाज' का उल्टा 'जव' होता है। 'जव' का अर्थ है, तीव्रता, गति, भागना, दौड़ना। अपने अन्दर गति का सामर्थ्य भरने वाले को भरद्-वाज कहेंगे। भरद्वाज का दर्शन यह है कि मनुष्य की इच्छाएँ दो प्रकार की होती हैं। पहली रयि की और दूसरी स्वस्ति की। रूढ़ अर्थ में, 'रयि' धन के अर्थ में, तो 'स्वस्ति' कल्याण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'रयि' शब्द √'रा' धातु से बना है। यह वही 'रा' धातु है जिससे 'राष्ट्र' शब्द बनता है। 'रा' का अर्थ है देना। देने योग्य चीज को जो दूसरों को नहीं देता है वह 'अ-राति' कहलाता है। इसी अर्थ में 'अरि' शब्द भी लोक में प्रचलित है।

'स्वस्ति' वह है जो अपने पास ही रहे, दूसरों को जिसे हम न दे सकें। सु-अस्ति। अस्ति का अर्थ है 'होना' और वह होना भी 'सु' हो। यदि हमारे पास स्वस्ति हो तो हमारे द्वारा दी जाने वाली हर वस्तु सु ही होगी। रयि स्थूल है, स्वस्ति सूक्ष्म। इस प्रकार सारी उपलब्धि को मन्त्र में रायः और स्वस्ति, इन दो भागों में बांट दिया गया है।

मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना की गई है—हमारे पास रयि भी हो दूसरों को देने के लिए और स्वस्ति भी हो आत्म-विस्तार के लिए। मन की प्रसन्नता तभी प्रकट होती है जब हम कुछ न कुछ देते हैं।

सु-विचार-दान की महत्ता बताई गई है। वैचारिक धरातल पर, विचार-दान सबसे बड़ा दान है! पर भौतिक धरातल पर भी हम बहुत कुछ दे सकते हैं। हम अन्न, वस्त्र, द्रव्य आदि का दान कर सकते हैं। अपना काम भी चलाएँ और दूसरों को भी दें। हमारे पास देने के लिए कुछ न हो, यह दरिद्रता है। पर, पास में होने पर भी न देना भी दरिद्रता ही है। ऐसे व्यक्ति को रयिमान् नहीं कहेंगे।

मन्त्र में रयि और स्वस्ति की उपलब्धि हेतु मार्ग का निर्देश एक दृष्टान्त

---

* मन्त्र—नू नो अग्ने ऽवृकेभिः स्वस्ति वेषि रायः पथिभिः पर्ष्यंह ।
ता सूरिभ्यो गृणते रासि सुम्नं मदेम शतहिमाः सुवीराः ।।

अर्थ—हे अग्ने! हमें हिंसकों का उपद्रव जहां न हो ऐसे उत्तम मार्गों से धन और सुख प्राप्त हो। हमें पाप से पार करो। विद्वानों को मिलने योग्य वह धन हम स्तोताओं को दें। सौ वर्ष तक वीर पुत्रादि से युक्त होकर हम आनन्द का भोग करें।

के रूप में किया गया है। 'अवृकेभिः पथिभिः', अवृक मार्ग से हम रयि को प्राप्त करें। वृक भेड़िये को कहते हैं। भेड़िये से भिन्न हमारा मार्ग हो। हमारे आज के जीवन को देखने से पता चलेगा कि हमारे अन्दर एक भेड़िया है, जो हमारे सारे महत्त्वपूर्ण आयोजनों को विफल कर देता है। न ही यह आत्म-कल्याण का और न बाह्य व्यवहार का मार्ग है। ५० वर्ष में देश के विकास के लिए हमने नौ पंच-वर्षीय योजनाएँ बनाईं। उनमें कम से कम हमें सात कदम आगे बढ़ जाना चाहिए था; परन्तु हर योजना में किसी की तिजोरी अथवा घर भरने के निहित स्वार्थ के कारण देश का विकास न हो सका। यह तिजोरी भी यदि सबके लिए हो तो कोई बात नहीं। पहले राजा की षष्ठांश वृत्ति होती थी। प्रजा अपनी आय का छठा हिस्सा निश्चित स्थान पर रख देती थी। उसे कोई नहीं ले जाता था। आर्यावर्त वह है जिसमें कस्तूरी मृग निर्भय विचरते हैं। सोने से भी कई गुना मूल्यवान् कस्तूरी है। यहां के निवासी पुरुषार्थ से पाने में विश्वास करते हैं, छीनते नहीं हैं। किसी जानवर को मारकर कुछ प्राप्त करना हमारा रास्ता नहीं है। वह तो हिंसा का मार्ग है। हम प्रकृति का दोहन इस प्रकार करें कि 'जितना कुछ' हमें चाहिए वह दे दे। 'जितना कुछ' से तात्पर्य है, हमारे पास भी हो और दूसरों को भी दे सकें। रघुवंश में राजाओं की विशेषता बताई गई है कि वे अर्थों का संभरण त्याग के लिए करते थे, 'त्यागाय संभृतार्थानाम्।'

हमारे देश में लगभग ३६ संवत प्रचलित हैं। संवत् चलाने वाले राजा को शाकपार्थिव कहा जाता था। शाकपार्थिव राजा अतिसमर्थ होते थे। 'पुरुशाक' इन्द्र को कहा जाता है। ऐसा राजा जो तीनों प्रकार के ऋणों से मुक्त हो। भौतिक रूप रूप में भी वह किसी का ऋणी न हो। उसके यहां सुसन्तान हो। देवों को यज्ञ से सन्तुष्ट कर दिया हो। समय पर वर्षा होती हो। रत्न व धन-धान्य सहज उपलब्ध हों। व्यक्ति जब इस प्रकार धन्य हो जाए तो वह धन एकत्र करता था। उसके द्वारा एकत्र धन भी व्यक्ति व्यक्ति का धन होता था, किसी एक व्यक्ति का नहीं। एकाकी दृष्टि, जिसे हमने अपनाया है, निन्दित कही गई है। उसी दृष्टि से हमारा देश दरिद्र हो गया है। दृष्टि बदलने पर आज भी हम धनी हो सकते हैं। महात्मा गांधी के पास कुछ नहीं था। एक धोती को ही वे पहनते-ओढ़ते थे। फिर भी पूछने पर वे कहते थे—मैं बहुत धनी हूं। कोई पूछता, वह धन कहां है ? वे कहते, तुम्हारी जेब में। किसी की तिजोरी में बन्द पैसा मेरा है। समाज में इतनी आत्मीयता बढ़ जाए, तभी हम अपने को धनी मान सकते हैं। १३ सौ खरब रुपयों का धन जहां केवल मन्दिरों में है, ऐसा राष्ट्र भी कभी निर्धन हो सकता है ? हमारे अन्दर यश की, प्रतिष्ठा की भावना भी यदि है तो वह वृक मार्ग है। मैंने धन दान दिया है, मेरा नाम होना चाहिए, वह उचित नहीं है। बांटते रहो। किसी बही में

लिखवाने की क्या आवश्यकता है ? मैंने यथाशक्ति दे दिया, इससे बड़ी और क्या बही होगी ?

हम ऐसा धन एकत्र करें जो दूसरों को भी दे सकें। वेद का आदेश है, अवृक मार्गों से ही हम धन प्राप्त करें। अवृक पथ से धन एकत्र करने वाला व्यक्ति धन्य है। हम स्वयं धन्य बनें, समाज और राष्ट्र को भी धन्य बना सकें, प्रभु हमें ऐसी दृष्टि दे।

□

कर्मठता

कृष्वा कृत्नो अ-कृतं यत् ते अस्ति। ऋग्वेद ६.१८.१५

हे कर्मठ ! तूने जो [पुरुपार्थ अब तक] नहीं किया [वह] कर।

मन्त्र में नित्य नए होने की पद्धति की ओर संकेत है। यह पुरुषार्थ की वाणी है। जैसा आज तक नहीं सुना, नहीं किया वैसा करना है। एक तो हमने वह नहीं किया जो कल हमसे अधूरा छूट गया था; उसे पूरा करो। तुम्हारे अनेक नामों में एक नाम 'कृत्नु' भी है। यह यत्न से मिलता हुआ शब्द है। प्रयत्न करो, नवीनता भरो। नवीनता जीवन का सौन्दर्य है।

क्षणे क्षणे यन् नवताम् उपैति तद् एव रूपं रमणीयतायाः।

प्रत्येक क्षण नवीनता भरी जानी चाहिए। सौन्दर्य की अनेक परिभाषाओं में एक परिभाषा यह भी हो सकती है, सु+दर। 'असु' का विपरीत 'सु' है। असु प्राण है, सु है निष्प्राणता। इस निष्प्राणता को जो फाड़ता हो उसका नाम सुन्-दर है। ढर्रे की जिन्दगी जड़ता की द्योतक है। जड़ता को नष्ट करना है। नवो नवो भवति जायमानः, ईश्वर का एक रूप सुन्दर भी है।

मन्त्र में मनुष्य की परिभाषा की गई है, 'कृत्नु'—कर्मठ। यह हर कार्य को नए अन्दाज और नए वर्यां से करेगा। राम ने जो जीवन जिया वह नित नया था। रघु जैसे पुरुषार्थी रघुकुल में हुए हैं। रावण लड़ने आया था रघु से। रघु ने अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही उसे हरा दिया और वह रघु की शक्ति देखकर वापस चला गया। राम भी रावण को उसी प्रकार डरा सकते थे। पर, पुरुषार्थी नए सिरे से काम करेगा। शेर सोया है। उसकी पूँछ खींचकर उत्तेजित कर मुकाबला करना नई बात थी। जयन्त ने सीता के पैर में चोंच मारी तो राम ने दण्ड देने के लिए एक तीर उसके पीछे छोड़ा। मानसिक शक्तियां उस समय संचित होती थीं। संकल्प ही बल होता था। 'मनुस्मृति' में ब्राह्मण की शक्तियों का उल्लेख करते हुए, संकल्प और वाणी की बात कही गई है।

वसिष्ठ के पास संकल्प-बल था। जब व्यक्ति अपने जीवन को नवीनताओं से भर लेता है तब उसमें ऐसा संकल्प-बल आता है। बिना मस्तिष्क के शरीर के सञ्चालन की बात विज्ञान नहीं मानता; पर हमने कबन्धों (बिना सिर के शरीर) को तीन-तीन पहर तक लड़ते हुए सुना है।

संकल्प-शक्ति को संचित करने के लिए हम अनेक उत्सवों का आयोजन करते हैं। प्रयाग में कुम्भ का मेला इसका प्रमाण है। इतिहास में एक राजा हुए हैं, हर्ष। प्रयाग में हर्ष ने गंगा के साथ जन-गंगा को भी देखा। सन्तों की वाणी-रूप सरस्वती भी उन्होंने देखी। हर्ष का मन उल्लास से भर गया; उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर दी। इसी प्रकार, रघु ने विश्वजित् यज्ञ किया था। उसमें उन्होंने सर्वस्व दान किया था। कौत्स जब धन की याचना करने गया तो उसने स्वर्णपात्रों के स्थान पर मिट्टी के पात्र देखे। प्रजापालन के लिए सर्वस्वत्याग, यह राजा का आदर्श था। दिग्विजय में राजा अपने आदर्श मनवाते थे; आक्रमण करके जनता को कष्ट नहीं देते थे। किसी राज्य पर राजनीतिक दृष्टि से अधिकार करना उनका कदापि उद्देश्य नहीं होता था। यदि ऐसा होता तो, अवध और मिथिला के राज्य तो पास-पास थे। अयोध्या अथवा जनकपुरी का राजा दूसरे राज्य को अपने अधिकार में रखता। पर, हम जानते हैं कि इन दोनों राज्यों के राजा अप्रतिम थे।

प्रकृति में नवीनता है; इसलिए उसमें सौन्दर्य है। पेड़ पर फूल खिलता है और मुरझा जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि फूल नया पल नए सौन्दर्य के साथ खिलेगा। सूर्य नित्य नया सौन्दर्य लेकर उदय होता है।

नित नई देनें होती हैं उसके पास, देने के लिए। इसी लिए तो वह 'देवों का मुख' कहलता है। एक साँस जो ली है वह दुबारा नहीं आएगी। अब जो सांस आएगी, नई होगी। अन्तिम साँस के साथ ही हमारा जीवन समाप्त नहीं हो जाता। अनन्त जीवन में भी नवीनता होती है। जहाँ हमारे जीवन से नवीनता समाप्त हुई वहां जीवन समाप्त हो जाता है। गोपाल को रोज क्यों जगाते हैं ? प्रभु से रोज प्रार्थना क्यों करनी चाहिए ? नवीनता होनी चाहिए, इसी लिए इन क्रियाओं को दोहराने की आवश्यकता होती है।

भारत अपनी कर्मठता के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। यहां के जीवन में सौन्दर्य है, सच्चरित्रता है। इसी लिए स्वर्ग के देव भी भारत में जन्म लेने के लिए लालायित रहते हैं। पर, दुर्भाग्य से हम अपने गौरव को भूलकर प्रमादी हो गए। एक तरह से हम मृत जीवन जी रहे हैं। एक कहावत है, 'चेला हत चाल चलाओ' चेले के हाथ से चाल चलाने की मनोवृत्ति ने हमारे जीवन को जड़ बना दिया है। जब तक हम अपने जीवन, परिवार, समाज और राष्ट्र में नवीनता नहीं भरेंगे तब

तक हम सौन्दर्य प्राप्त नहीं कर पाएँगे। सौन्दर्य परमात्मा का एक रूप है! प्रभु हमें सौन्दर्य प्राप्त करने की शक्ति दें।

पूरा मन्त्र—

अनु द्यावापृथिवी तत् त ओजोऽमर्त्या जिहत इन्द्र देवाः।
कृष्वा कृत्नो अकृतं यत् ते अस्त्युक्थं नवीयो जनयस्व यज्ञैः।
ऋ. ६.१८.१५

अर्थ : हे इन्द्र! तेरे उस प्रसिद्ध बल का द्यौ और पृथिवी अनुसरण करते हैं। अमर देव तेरे बल का अनुसरण करते हैं। हे कर्मठ वीर! जो तेरा न किया कर्म है, तू उसको कर और यज्ञों के द्वारा नए स्रोतों का निर्माण कर

५

वर्तमान

न नूनम् अस्ति नो श्वः। ऋ. १.१७०.१

जिसको हमने आज निश्चित नहीं किया, उसे कल प्राप्त नहीं किया सकता। यह अगस्त्य ऋषि का दर्शन है। 'अ-ग' = गति देने की सामर्थ्य जिसमें न हो। स्त्य = विनाशक शक्ति। अग = पाप। अगस्त्य का दर्शन पापविनाश से सम्बन्ध रखता है। पापविनाश कैसे हो, यह इस छोटी-सी सूक्ति में बताया गया है। हमारे सन्त-कवियों ने कहा है, 'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।' इसी भाव को वेद में ऋषि ने 'न नूनम् अस्ति, नो श्वः' द्वारा प्रकट किया है। जो लोग भूतकाल को लादकर चलते हैं या जो भविष्य के स्वप्न देखते हैं वे बहुत श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते। चाहे किसान का काम हो, चाहे विद्यार्थी का, अध्यापक का हो अथ वा किसी का भी, काम को कल पर टालने वाले कभी सफल नहीं होते। कार्य का आरम्भ आज और इसी समय होना चाहिए। किसी मुहूर्त के लिए बहुत समय गुजार देना अच्छी बात नहीं है। मुहूर्त का मतलब मानसिकता से जुड़ने से है। किसी कार्य के लिए हम अपने मन को तैयार कर लें; मुहूर्त का यही अर्थ हो सकता है, और कोई नहीं। जब हम प्रसन्न होते हैं तो कार्य को भली प्रकार समाप्त कर पाते हैं। जब हम अधूरे मन से, यह सोचते हुए, कार्य करते हैं कि संसार हमारे लिए क्या सोच रहा है, तब कार्य की सफलता निश्चित नहीं हो पाती। जो हम बोलते हैं उससे ज्ञात हो जाता है कि काम सफल होगा अथवा नहीं। हमें सफलता ही मिले, ऐसा कब होता है? आज का काम आज ही करने से सफलता निश्चित हो जाती है।

हम काम करने में शकुनों पर भी विचार करते हैं। शकुन का सम्बन्ध शकुनि से है। 'शकुन' का अर्थ इतना ही हो सकता है कि हम प्रकृति के साथ जुड़ें, प्रकृति को सहयोगी बनाएँ, प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं को देखकर कुछ सीखें।

'सत्' का अर्थ है वर्तमान, 'संग' का अर्थ है साथ रहना, जुड़ना। वर्तमान से जुड़ना भी 'सत्संग' शब्द का एक अर्थ है। वेश-भूषा बदलकर एकान्त में बैठने से सिद्धि मिल जाएगी, ऐसा सोचना गलत है। आदमी परिस्थितियों का निर्माता है। 'न-र' का अर्थ ही है, न रमते। नर परिस्थितियों से ऊपर उठकर सोचता है। 'यदि ऐसा न हुआ तो', यह भाषा हमने कहां से सीखी ? हम तो ईमानदारी से जुटे हैं, शिथिल नहीं हैं, फिर उसका परिणाम, हो, जो हो। अपने जीवन को कई सूक्तियों में बांधकर चलने वाले रचनाकार, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' कहते हैं, 'असफलता को असफलता तब तक मत मानो, जब तक कि वह सामने आकर खड़ी न हो जाए।' हम पूरा प्रयास करते नहीं; मन में भी असफलता का चोर बैठा रहता है। फिर भी सफलता मिल जाए तो भाग्य को हम श्रेय दे सकते हैं; पर विजय-गर्व के अधिकारी तो हम नहीं रहे। यह परम सुख था; उससे हम वञ्चित रहे। किसी भी काम को करने की एक विधि होती है। कार्य के लिए उठाए गए पहले कदम से ही आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द की एकतानता कार्य की पूर्णता तक बनी रहनी चाहिए। पूरे मन से किया गया काम सफलता देगा और उसका परिणाम आनन्द होगा।

वर्तमानकाल जो थोड़ी देर पहले भविष्य था और कुछ क्षण में जो भूत बनने वाला है, वह दौड़ा जा रहा है। उस क्षण को पकड़कर सार्थक कर लें। जीवन का प्रवाह अपने में परिपूर्ण होगा। चरम और परम आनन्द हमारा होगा। लोक में यह कहा जाता है कि 'अमुक ने ऐसा काम किया कि सात पीढ़ी तर गई', इसका अर्थ यह है कि जो वर्तमान के साथ जुड़ता है वह पूर्वजों और आने वाली पीढ़ियों को सार्थक बना देता है।

पूरा मन्त्र—

न नूनम् अस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यद् अद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यम् उताधीतं नश्यति ॥ १.१७०.१

अर्थ : जो आज प्राप्त होना है वह तो आज नहीं मिल रहा है, वह कल भी नहीं मिलने वाला है। तब जो अभी अभूत है संकल्प में भी नहीं आया उसे कौन जानता है ? दूसरे का चित्त चलायमान होता है और संकल्पित विचार भी नष्ट हो जाता है।

एक-मति का व्रत

अमी ये वि-व्रता स्थन् तान् वः सम्-नयामसि । अथर्ववेद ३.४.५

ये जो [तुम] विरुद्ध-व्रत हो उन तुम्हें [एक-मति की ओर] झुकाते हैं ।

यह मन्त्र उसी शैली का है जिस तरह की शैली का ऋग्वेद का संगठन-सूक्त (सं गच्छध्वं...., आदि मन्त्र) है । मंत्र में मूल शब्द 'वि-व्रत' है । विरुद्ध-व्रत को हम एक ओर झुकाएँ । 'वि-व्रत' में मूल शब्द 'व्रत' है । व्रत को धारण करनेवाला व्रती होता है । व्रती ही वीर होता है । व्रतों से जी चुरानेवाला वीर नहीं कहलाता । आज हम जिस तरह का जीवन-यापन करते हैं उसमें व्रतों के स्वरूप को हम भूल गए हैं । जैसे भी हो, हम 'व्रत' शब्द से तो परिचित हैं ही । आज पूर्णिमा का व्रत है, आज मंगलवार का व्रत है आदि कह कर व्रती बनना चाहते हैं ।

देश 'सम-व्रत' की स्थिति में चलता है । वि-व्रत होने पर न समाज चल सकता है, न देश । जो व्रत एक दूसरे को अलग करता है वह 'वि-व्रत' है । एक बार धरती के लोगों ने स्वर्ग तक पहुंचने के लिए एक बड़ी मीनार बनाने का निश्चय किया । उन्होंने काफी ऊँची मीनार का निर्माण कर लिया । यह देखकर ईश्वर ने सोचा, यदि ये लोग स्वर्ग तक आ गए तो यहाँ भी कोलाहल करेंगे । ऐसा काम करना चाहिए जिससे मीनार बन ही न सके । इसलिए उन्होंने मनुष्यों के विचारों और भाषा को अलग कर दिया । परिणामस्वरूप मीनार के कार्य में विघ्न पढ़ने लगे । चूना मांगने पर पत्थर देने लगे । विचारों की भिन्नता के कारण वे नियत कार्य को लगन से न कर सके । मीनार नहीं बन सकी । अभी जो आपने अग्नि में आहुतियां डालीं, यह यज्ञ है; पर यह तो प्रतीक है । एक यज्ञ ऐसा होता है जो हमारे जीवन में प्रविष्ट होता है । प्रतीक-रूप में किया जानेवाल यज्ञ जब तक हृदय की भावना में प्रतिष्ठित नहीं होता तब तक वह दिखावा है । यज्ञ में आंतरिक भावना भी व्यक्त होनी चाहिए ।

व्रत लेने का अर्थ संकल्प करना होता है । हम मानवता के हित के लिए जो भी संकल्प करते हैं वह अपनी परिस्थिति में ही पूरे हो जाते हैं । संकल्प को पूरा करने के लिए हिमालय पर अथवा अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि हम जहां हैं वहीं हमारा संकल्प पूरा होगा । इयं वेदिर् भुवनस्य नाभिः। हम जिस धरती पर रहते हैं वह गोल है । उसमें कहीं भी निशान लगा दीजिए, वह उसका केन्द्र होगा । हम जहां हैं वह हमारा केन्द्र है । उसी पर हमें समर्पित होना चाहिए । व्रत धारण कर सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों को जागरित रखना है । तभी हम कानों से दीन-दु:खियों की पुकार सुनेंगे, आँखों से देखेंगे, तभी समाज का कुछ कल्याण कर सकेंगे । लंका में प्रवेश करने से पूर्व राम को एक पहाड-सा कुछ

दिखाई दिया। पूछने पर पता चला कि राक्षसों ने सामान्य जनों और ऋषियों को मारा था। यह उन्हीं की अस्थियों का ढेर है। तब राम ने हाथ उठाकर राक्षसों के संहार का प्रण किया, 'निशिचरहीन करौं मही, भुज उठाय प्रण कीन'। जब हम भूखे को देखेंगे तब कोशिश करेंगे कि कोई भूखा न रहे। विवेकानन्द कहते थे, 'भारत का कुत्ता भी यदि भूखा है तो हमें भोजन करने का अधिकार नहीं है।' जिस देश में ऐसी कल्पना की जाती हो वहां लोगों को खाने को भी न मिले, यह तो विडम्बना है। हमारे वि-व्रत बनने से ऐसी स्थिति पैदा हो गई है।

हम सब मिलकर यदि अपने व्रतों को सम-व्रत बना लें तो समस्या का समाधान हो सकता है। ब्रह्म एक था। उसके मन में यह कल्पना जागी कि, एकोऽहं बहु स्याम्। उसका मन हमारे मन के जैसा नहीं था। हम तो सबको अपने पैमाने से नापते हैं। हमारे मुख, हाथ-पैर हैं। तो हम ब्रह्म के भी मुख-हाथ-पैर की कल्पना करते हैं। समाज और राष्ट्र के लिए भी वैसी ही कल्पना करते हैं। हम ब्राह्मण को समाज का सिर, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को ऊरू तथा शूद्र को पैर मानते हैं। सारी प्रयोगशाला 'हम' को पैमाना मानकर चलती है। संसार की सारी विचारधाराएं 'हम' से शुरू होती हैं। यह संसार 'हम' का खेल है। हम अपने स्वरूप को भूलकर वि-व्रत हो गए हैं। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?' इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि नाखून हमारे मन की हिंसात्मक प्रवृत्ति के द्योतक हैं। 'एटम बॅम' का निर्माण क्यों हुआ ? द्विवेदीजी कहते हैं, 'एटम बॅम' नाखूनों के रूपान्तर हैं। यदि मानव में सद्भावना हो तो न बम बनाने की आवश्यकता है, न अन्य किसी अस्त्र-शस्त्र की।

हम जिस पद पर बैठे हैं उसकी गरिमा को ध्यान में रखना चाहिए। हम सफाई करने वाले हैं तो उस पद की भी गरिमा कम नहीं है। यदि सब व्यक्ति अध्यापक, व्यापारी अथवा क्लर्क बनेंगे तो सफाई कौन करेगा ? सब एक दूसरे के पूरक बनकर जीने हेतु प्रयत्नशील हों। शरीर का प्रत्येक अंग अन्य अंगों से मिलकर शरीर का संचालन करता है। यदि पैर सिर बनना चाहेगा तो क्या स्थिति होगी ? अतः हमें अपनी स्थिति की गरिमा को समझ कर उसके अनुकूल व्रत लेना चाहिए। यदि व्रत के अनुकूल जीवन को ढालने की बात नहीं है तो मानना चाहिए कि हम वि-व्रत हो गए हैं।

मन्त्र के पूर्वांश में कहा गया है कि हम सब सम-मन हों। यदि ऐसा न हो तो सुपथ पर चलने वाले ऐसे लोगों को सम्-व्रत बनाएं। समाज की गिरी हुई अवस्था में भी सुपथ की पहचान करने वाले न हों, ऐसा कभी नहीं होता। हां, संख्या में कमी भले ही हो जाए। सुपथगामी को अधिकार है कि वह विपथगामी को गलत रास्ते पर चलने से रोके। उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह स्वयं सदाचारी

तो बने ही, वीरव्रत-धारी भी बने और दूसरों को भी ऐसी प्रेरणा दे।

कल रक्षाबंधन का पर्व था। इसका अर्थ केवल इतना नहीं जितना हम जानते हैं। भाइयों के हाथ में बहिनें रेशम का जो धागा बांधती हैं उसे 'वर्णी' कहा जाता है। यह उत्तम व्रतों के धारण के लिए बांधा जाता है। हम प्रभु से प्रार्थना करें सदाचारी, वीरव्रतधारी बनें और सबको समान-व्रत बनाएं।

□

सोम-सखा बन !

भक्ति के विविध रूपों में एक सख्य-भक्ति भी है, जिसमें अपने इष्ट परम प्रभु को सखा के रूप में स्वीकार किया जाता है। वेद में अनेक मन्त्रों में परमात्मा के किसी न किसी द्युतिमान् रूप से सख्यत्व प्राप्त करने की कामना की गई है। एक मन्त्र है—

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिर् अंशुभि: ।
भवा न: सुश्रवस्तम: सखा वृधे ।। ऋग्वेद १.९१.१७

अर्थात् हे अत्यधिक आनन्दमय सोम ! [अपनी] समस्त रश्मियों से [हमें] परितृप्त कर। हे अत्यधिक कीर्तिमान् ! [तू] हमारी वृद्धि के लिए सखा हो।

यह गोतम राहूगण द्वारा उष्णिक् छन्द में निबद्ध सोम की स्तुति है। सोम के दो विशेषण मदिन्तम: और सुश्रवस्तम: मन्त्र में साभिप्राय प्रयुक्त हुए हैं। मदिन्तम: का अर्थ है अत्यधिक मादक, आनन्दमय। इसी तरह सुश्रवस्तम: का अर्थ है—अत्यधिक कीर्तिमान्, सर्वश्रेष्ठ यशस्वी। साधक जिन गुणों की याचना करता है उनको अपने इष्ट देवता में घनीभूत अवस्था में विद्यमान मानता है। वैसा ही यहां देखने को मिलता है।

सानन्द और कीर्तिमान् होकर साधक वृद्धि चाहता है। उन्नति चाहता है। सोम अपनी समस्त रश्मियों से आनन्द और कीर्ति साधक में भर दे तो साधक परितृप्त हो। सोम यह सब स-खा बन कर करे। जिनकी इन्द्रियां समान हों, जिनके दृष्टिकोण समान हों, वे होते हैं सखा। जिसका सखा सोम-संज्ञक परमात्मा हो जाए, उसकी उन्नति होगी ही। उसकी वृद्धि को कोई रोक नहीं सकता।

परमात्मा के तीन स्वरूप हैं—सत्, चित् और आनन्द। परमात्मा की तरह आत्मा भी सत्, चित् और आनन्दमय है। दोनों स्वभावत: तो सखा ही हैं; पर माया के आवरण में लिपटा हुआ आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है। जब वह आत्म-साक्षात्कार कर ले, अपने स्वरूप को पहचान ले तभी—'वह परमात्मा का सखा है'—इस बात को जान जाता है।

प्रत्येक प्राणी इच्छा, ज्ञान और क्रिया का पुतला होता है। इनके माध्यम से वह अपनी विवशताओं, सीमाओं और अपूर्णता को तो व्यक्त करता ही है साथ ही अपने मूल स्वरूप की खोज में भी लगा रहता है।

हम जितनी इच्छाएं करते हैं, जितना ज्ञान प्राप्त करते हैं—उन सबका लक्ष्य आत्मा की खोज होता है—अपने प्रभु को पाना है, तो अपने आपको पहचानो—अपनी आत्मा को पहचानो।

आनन्द को पाना चाहते हो न? तो आनन्द का स्रोत खोज लो। उसी को चाहो, उसी के लिए ज्ञान प्राप्त करो, उसी के लिए कर्म करो। देखना है तो उसे देखो—अग-जग में समाया हुआ, सर्वत्र। उसकी सत्ता कण-कण में है। सर्वत्र उसी का सौन्दर्य व्याप्त है। सुनना है तो उसी के गुणगान सुनो। शब्द गुण वाला आकाश उसी का गुणगान करता है। सूंघना है तो उसी को सूंघो। सारे विश्व में उसी की गन्ध व्याप्त है। करना है तो उसी का काम करो। चलना है तो उसी की ओर चलो।

उसे सखा बनाना है तो श्रम करो। इस सूत्र को याद कर लो—न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। जो श्रम करके थकते नहीं हैं देवता उनके सखा नहीं बनते। जो भी काम सामने आए उसे परमात्मा की सेवा समझकर अंगीकार करो। जहां कर्तव्य की पुकार हो वहां सबसे पहले पहुंचो। दीन-दुःखी की सेवा करना धर्म है। हर अच्छे काम में सहयोग करने के लिए तैयार रहो। कोई भी काम छोटा नहीं है। काम को छोटा मानने वाला ही छोटा आदमी होता है।

सोम का अर्थ है श्री। श्री सम्पन्नता, सच्चरित्रता का लक्षण है। जो वृद्धि-कामी-उन्नतिशील होते हैं उनका राजा सोम होता है—सोमो वै अस्माकं ब्राह्मणानां राजा। सोम सखा बनो। सच्चरित्र बनो। सुकर्मी बनो, सद्धर्मी बनो। शान्त बनो, श्रान्त बनो, श्रम का आदर करना सीखो, केवल उठना-उन्नत होना ही तुम्हारी एकमात्र गति है। तुम अवगति या अधोगति के लिए बने ही नहीं हो इसलिए आज और अभी सोमसखा होने का संकल्प करो, व्रत लो। ▣

आत्मनिर्भरता

ध्रुवं ध्रुवेण हविषा,व सोमं नयामसि।
यथा न इन्द्रः केवलीर्, विशः सं-मनसस् करत्। अथर्व. ७.९.४१

अन्वय : ध्रुवेण हविषा ध्रुवं सोमं अव नयामसि, यथा इन्द्रः नः विशः केवलीः स-मनसः करत्।

अर्थ : ध्रुव हवि से ध्रुव सोम को अव-नीत करते हैं, जिससे इन्द्र हम/हमारी प्रजाओं को आत्म-निर्भर (केवली) और सम्यक्-मन वाली करे।

आत्मनिर्भर जीवनव्यवस्था सबको प्रिय है। महात्मा गांधी ग्राम-स्वराज की कल्पना करते थे। हमारे राजनेता आत्मनिर्भरता की बात करते रहते हैं। एक व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र के लिए इससे अच्छी कोई बात ही नहीं हो सकती कि वह आत्मनिर्भर हो। पर, जब हम व्यावहारिक स्तर पर निर्भरता की बात करते हैं तब इस बात को भूल जाते हैं कि आत्मनिर्भरता केवल अध्यात्म की सीमाओं में ही सम्भव है।

हमारे यहां साधक कैवल्य पद प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। व्यवहार और चिन्तन में इतनी दूरी मान ली गई है कि परम पद या कैवल्य-धाम को इस लोक से परे की वस्तु मान लिया जाता है। वस्तुत: कैवल्य का सम्बन्ध केवल से है। शरीर के विविध भौतिक प्रपंचों से पृथक् आत्मा हमारे भीतर विद्यमान है। वही केवल है। उस केवल को देखना, पाना, अनुभव का विषय बनाना कैवल्य या केवली होने का मार्ग है। जो केवली हो जाता है वही सच्ची आत्मनिर्भरता प्राप्त करता है।

उपर्युक्त मन्त्र का ऋषि अथर्वा—अडिग रहने वाला है और देवता है, इन्द्र—प्रभु। वह प्रभु ही हम प्रजाओं को केवली बनाता है। केवली बनाने के साथ सं-मनस्क भी बनाता है। 'संमनस्क' का अर्थ है—सम्यक्-मन-वाला, परिपूर्ण-मन-वाला, एकत्र-मन वाला, परहितरत-मन वाला। चिन्तन के स्तर पर जो केवली—केवल—आत्मा में विचरण करने वाला बनना चाहता है वह प्रभुकृपा से ऐसा बन सकता है। प्रभु उसे व्यवहार के स्तर पर सं-मनस्क बना देते हैं।

प्रभु की 'प्र-जा' (उत्कृष्ट-जन्मा) बनने वाले को ही प्रभु केवली और सं-मनस्क बनाता है। वैसे मन बड़ा चञ्चल है। उसको वश में करने के लिए योगमार्ग में एक लम्बी प्रक्रिया बताई गई है। कोई व्यक्ति इतना धीरज न रख सके तो उसके लिए उचित होगा कि वह सर्वतोभावेन स्वयं को प्रभु को समर्पित कर दे। योगदर्शन के अनुसार ईश्वर-प्रणिधान से भी साधक को वही सिद्धि मिल सकती है जो योग की दीर्घकालीन साधना से मिलती है। यहां उसी प्रभुकृपा की ओर संकेत किया गया है।

जब हम मन के शासन में रहते हैं तो अपने शरीर के सुख के लिए ही जीवन की बाजी लगाते रहते हैं; पर जब मन को आत्मा के अनुशासन में समर्पित करके संमनस्क बन जाते हैं तब मन में करुणा, सहानुभूति, सहयोग, सेवा, शुश्रूषा, परदुःख-कातरता, परहितरति आदि के उत्कृष्ट भाव पैदा होते हैं। दूसरे के दुःख को हम अपना दुःख मानने लगते हैं। उसके दुःख को बँटाने को तैयार हो जाते हैं।

परम भागवत रन्तिदेव संसार-भर के प्राणियों के दुःखों को अपने ऊपर लेने के लिए उतारू क्यों थे? इसलिए कि वे सबकी पीड़ा को समझते थे। कहते हैं

कि एक गाय की पीठ पर मारे डण्डे का निशान सन्त ज्ञानदेव की पीठ पर उभर आया था। इतने परदुःखकातर थे। मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने वाले सर्वोच्च मानवीय गुण करुणा, सहानुभूति, सेवा आदि ही है। ये संमनस्कता से विकसित होते हैं और संमनस्कता प्रभुकृपा से केवली होने पर आती है।

केवली और सं-मनस्क बनने के लिए प्रभुकृपा के पात्र कैसे बनें ? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र की प्रथम पंक्ति में मिलता है। कहा गया है कि ध्रुव हवि से ध्रुव सोम को प्राप्त करें। जब सोम होगा तो इन्द्र भी होगा। सोम से प्रसन्न होकर केवली और सं-मनस्क बनाएगा प्रजाओं को।

'हवि' नाम है हव, अर्थात्, आवाहन के साधन का। निश्चित या सार्थक आवाहन के साधन को 'ध्रुव हवि' कहा जाएगा। उस हवि को प्रदान करने से ध्रुव सोम प्राप्त होगा। महात्मा गांधी ने साधन और साध्य, दोनों की पवित्रता की बात कही थी। वेद की शब्दावली में हवि और सोम की ध्रुवता की बात उसी के समानान्तर है।

जीवन-यज्ञ में ध्रुव हवि प्रदान करने से ध्रुव सोम की सृष्टि होगी। इन्द्रियों से सम्पन्न होने वाले सब कर्म आत्माग्नि में आहुति बन जाएँ। सब इच्छाएँ, सब जानकारियां और सब क्रियाएँ जब हवि के रूप में आत्माग्नि में आहुत होंगी तो वे सब सफल और सार्थक हो जाएँगी तथा आत्माग्नि प्रदीप्त हो जाएगा। इन सब साधनों में दिव्यता और पवित्रता का आधान होगा। तब अति-उत्साह, अति-सक्रियता, कर्मठता, आशावादिता, दृढ़ता, संकल्प, श्रम, सफलता आदि दिव्य सम्पत्तियों का उदय होगा। इनकी प्राप्ति का आनन्द ही सोम है, सिद्धि की अनुभूति है।

जब ऐसी अनुभूति जागे तो समझना चाहिए कि हम साधना से प्रभुकृपा के अधिकारी हो गए। वह हमें केवली और संमनस्क बना देगा।

मन, बुद्धि, इन्द्रियां, प्राण आदि सब शरीर में प्रविष्ट आत्मा की प्रजाएँ हैं। इन प्रजाओं को प्रभु आत्मानुशासित, आत्मप्रेरित, केवली बनाएगा तो हम भी आत्मसाक्षात्कार के इस सुख को—आनन्द को अवश्य ही अनुभव कर पाएंगे। सोमपान करके सौम्य बन जाएंगे।

जब केवली बनेंगे तो आत्मतन्त्र या स्वतन्त्र हो जाएँगे। स्वाधीनता प्राप्त कर लेंगे। आत्मा के वश में होंगे। परवशता के बन्धन कट जाएँगे। स्वातन्त्र्यं परमं सुखम् अथवा सर्वम् आत्मवशं सुखम्—की अनुभूति तभी जागेगी।

यही सच्ची आत्मनिर्भरता है। जब प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर बने तो परिवार, समाज और राष्ट्र भी आत्मनिर्भर बनें। संसार में प्रभु का साम्राज्य स्थापित होने की कामना करने वाले तो अनेक हैं; पर आत्मनिर्भर हुए बिना प्रभु का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता। ☐

गुणसंचय

अग्ने ! देवाँ आ वह नः प्रिय-व्रतान् मृडीकाय प्रिय-व्रतान् ।
ऋग्वेद १०.१५०.३

यह मन्त्र मृडीक वसिष्ठ का है। मृडीक अपने मन की बात कहता है। अग्नि को अग्नि इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह अग्रणी है। अग्नि देवों में प्रमुख है। प्रमुख को पहले बुलाते हैं। अग्नि का आह्वान करने में सब देवों का आह्वान हो जाता है। वैसे ये देव अनेक नहीं हैं, एकं सद् विप्रा बहु-धा वदन्ति।

यहां देवों के रूप में परमात्मा के जिन गुणों की चर्चा की गई है वे हम अपने में धारण करना चाहते हैं। इसलिए देवों का आह्वान किया गया है। परमात्मा के उत्तम गुणों को धारण करके हम सुखी हो सकते हैं। परमानन्द की प्राप्ति के लिए हम दुःखों की चर्चा करते हैं। दुःखों की निवृत्ति परमात्मा को जाने बिना नहीं होती। उस परम सत्ता के विषय में सारे प्राणियों की कल्पनाएँ अलग-अलग हैं। पांच अरब मनुष्य और अन्य जीवधारी भी अज्ञात तत्त्व के विषय में अपने-अपने ढंग से सोचते होंगे। किसके चिन्तन में कौन-सा अनुभव आया होगा, क्या पता? कुछ अनुभवों को हमारे ऋषियों ने चुन लिया और सूत्र बनाया। उस सत्ता के विषय में देवेन्द्रनाथ ठाकुर का सूत्र था—सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्।

संसार में सबसे प्रिय वस्तु यदि कोई है तो परमात्मा है। व्यक्ति जिसे अपना मान लेता है उसके माध्यम से अपना सर्वस्व प्राप्त कर लेता है, जैसे रसखान और घनानन्द ने कृष्ण और सुजान के माध्यम से अपना सर्वस्व पा लिया था। जिसमें यह रागात्मिका वृत्ति नहीं है उसके लिए संसार रेगिस्तान है। सुख संकल्प से मिलता है। हम सुन्दर-सुन्दर संकल्प ग्रहण करें। मीठा बोलेंगे, ऐसा संकल्प लें। हम चाहते तो हैं; पर संकल्प नहीं लेते। संसार के एक चौथाई आदमी भी अगर यह सोचने लगें कि संसार में सुख, शान्ति रहे तो शान्ति हो सकती है। पर, सोचते नहीं हैं। जो सोचते हैं वे संकल्प नहीं करते। हम दान का संकल्प लें। सद्विचारों का संकल्प लें, दूसरों को उनका हिस्सा देने का संकल्प लें। मीठी वाणी सुनना चाहते हैं, तो सुनाएँ भी। खिलाएँ भी, खाएँ भी; आनन्द अधिक आएगा। जिसका हिस्सा हमारे पास है उसे नहीं देते, इसलिए युद्ध होते हैं। अपने हिस्से को प्राप्त करने का सुख और देने का सुख, दुगुना सुख मिलेगा।

वैज्ञानिकों ने विश्लेषण करके बताया है कि शरीर में सुख पैदा करने वाली कोई वस्तु नहीं है। कुछ समय पहले शरीर के सारे कैमिकल्स की कीमत रु. ८२/- थी। नगण्य होते हुए भी जो हमारे पास है वह बहुमूल्य है। तुलसी ने तन को कञ्चन कहा है, 'लाभ कहा कञ्चन तन पाए।' शरीर नाम का नगण्य साधन भी हमारे लिए सबसे अधिक मूल्यवान् है। इस साधन से परम सुख, अपने आराध्य को प्राप्त करने का सुख भी हम प्राप्त कर सकते हैं। ▢

शासक

देवो न यः पृथिवीं विश्व-धाया उप-क्षेति हित मित्रो न राजा ।

ऋग्वेद १.७३.३

विश्व-पोषक हितकारी मित्रों वाला वह अग्निदेव हमारा राजा होकर निवास करता है ।

ऋग्वेद में अग्नि के गुणों के माध्यम से शासक के गुणों का उल्लेख किया गया है । दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि शासक को अग्निधर्मा होना चाहिए । अग्नि विश्व-पोषक है । जन्म के बाद बालक का सर्वप्रथम परिचय पृथिवी से होता है । पृथिवी का देव अग्नि है । इसलिए प्रथम सम्पर्क अग्नि से होता है । शासक भी विश्व-पोषक होना चाहिए । 'वि-धायक' शब्द 'विश्व-धाया' शब्द के अत्यन्त निकट पर्यायवत् है । राजा सम्पूर्ण सामर्थ्य को धारण करने वाला होना चाहिए । राम राजा थे । राम के राज्य को साकार करने के लिए भरत अत्यन्त निकट थे । भरत के लिए कहा गया है—

विश्व भरण-पोषण कर जोई, ताकर नाम भरत अस होई ।

राजा स्वयं हितकारी मित्र हो और हितकारी मित्रों वाला हो । वह अच्छे लोगों को ही अपना सहयोगी बनाए । सुन्दर लक्षणों से युक्त, लक्ष्मण राम के सहयोगी थे । शत्रुओं का घात करने वाले, उन्हें प्रेरणा देने वाले, शत्रुघ्न राम के सहायक थे । राम ने सहायक बनाया हनूमान जैसे सेवक को जो केवल सेवा के बल पर पूजा का पात्र हुआ । राम का पंचायतन प्रजा के हितचिन्तन करने वालों का समूह था ।

राजा सहयोगियों को प्रेरणा देने वाला भी होना चाहिए । इतिहास में सुय्य नामक शूद्र का उल्लेख आता है । वह चतुर चोर था । चोरी का वह कोई सबूत भी नहीं छोड़ता था । अतः पकड़ा नहीं जा सकता था । राजा ने उसे अपने पास बुलाया । उसके चातुर्य की परीक्षा लेकर उसे अपना मन्त्री बना लिया । उसने कश्मीर में बहने वाली सिन्धु नदी की धारा का रुख बदल दिया, जिसके कारण श्रीनगर सैकड़ों वर्षों तक बाढ़ के प्रकोप से बचा रहा ।

शासक विकास, संवर्धन, परिवर्धन, उत्थान के भावों के साथ तादात्म्य रखने वाला होना चाहिए । संसार संसरणशील है । जगत् गतिशील है । यदि हम गतिशील न होंगे तो हमारे जीवन में गिरावट अवश्यम्भावी है । हमारे जीवन की शक्ति को 'उमा' कहा गया है । उमा पार्वती होती है । 'पार्वती' का अर्थ है, पर्व पर्व आगे बढ़ने की शक्ति । उन्नति का एक शिखर नहीं हुआ करता है; शिखर शिखर करके उन्नति होती है ।

चाणक्य संसार का राजनीतिक चिन्तक हुआ है। उसने राज्य का मूल इन्द्रियजय को माना है। उसके अनुसार, धर्मस्य मूलं अर्थं, अर्थस्य मूलं राज्यं, राज्यस्य मूलं इन्द्रिय-जयः। हम विश्व-मन और राष्ट्रमन का निर्माण करते हैं। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि मुझसे गलती हो गई तो क्या हुआ? मनुष्य अपने व्रतों को तोड़ता है तो वह राष्ट्र और विश्व के संकल्प को क्षीण करता है। मनुष्य की व्यक्तिगत कमजोरी से राष्ट्र को हानि उठानी पड़ती है। अतः शासक को अपने प्रति अत्यन्त सतर्क और जागरूक रहना चाहिए।

□

राष्ट्र और प्रजा

उत्तरं राष्ट्रं, प्र-जया उत्तरा-वत्। अथर्ववेद १२.३.१०

राष्ट्र उत्तर [है]। प्रजा द्वारा [वह] उत्तर [होता] है।

प्रस्तुत मन्त्रांश पृथिवी-सूक्त का अंश है। 'प्रथनात् पृथिवी' जो फैलती है वह पृथिवी है। हमारी संज्ञा भी पृथिवी हो जाती है यदि हम फैलने का सङ्कल्प करें। यह 'भूमि' इसलिए है क्योंकि इसका अस्तित्व है। यह 'पृथिवी' इसलिए है क्योंकि यह फैलती है। ब्रह्माण्ड निरन्तर फैलता जा रहा है। कई ग्रह जो हमारे निकट थे वे दूर होते जा रहे हैं। चन्द्रमा भी इतनी दूर नहीं था जितना आज है। इसे हम 'चन्दा मामा' कहते हैं क्योंकि यह हमारी पृथिवी माँ का भाई है, निकट रहने वाला है।

कोई भी वस्तु जब फैलने लगती है तो अग्निधर्मा हो जाती है। 'राष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से मानी जाती है—(१) √'राज' धातु से 'त्र' प्रत्यय 'अत्यधिक' अर्थ में होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ है अत्यधिक प्रकाशवान्। (२) दूसरी व्युत्पत्ति, √'रा' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करके 'राष्ट्र' शब्द बनाती है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'राष्ट्र' का अर्थ है—अत्यधिक त्यागशील। इन दो अर्थ-गरिमाओं के लिए भूमि-सूक्त में कहा गया है—उत्तरं राष्ट्रम्'। सामान्य स्थिति से उत्तर हो जाना राष्ट्र है। यह ऋण से धन होने की प्रक्रिया है। हमारा जीवन धन्य होने के लिए है। जिसके पास धन नहीं उसे भी भी हम धन्यवाद दे देते हैं, इस आशा से कि आज नहीं तो कल जीवन धन्य होगा। हमारा जन्म जैविक प्रक्रिया के आधार पर हुआ है। उसके अनुसार हम 'जन' हैं, 'जाति' हैं। आज 'जाति' का, पता नहीं, क्या अर्थ ग्रहण कर लिया गया है? महर्षि गौतम के अनुसार जाति समान-प्रसवधर्मा होती है। जिनके जन्म की प्रक्रिया एक जैसी होती है वे एक-जाति के होते हैं। कोई व्यक्ति कश्मीर में रहने वाला हो या

अफ्रीका में, चीन के पीत वर्ण के हों चाहे और कहीं के, अन्य वर्ण के, प्रसव-धर्म समान है। इसलिए सभी मनुष्य एक जाति के हैं। सामान्य जन्म लेकर हम 'जन' कहलाते हैं। जनतन्त्र तो सामान्य व्यवस्था है। लोकतंत्र इससे ऊँची स्थिति है। लोक =अवलोकन करना। हम देखते हैं, समझते हैं। अच्छाई-बुराई को पहचानते हैं, यह लोकतन्त्र है। इससे भिन्न संज्ञा होती है प्रजा की। जो अपने को सामान्य से उत्तर बना लेती हो वह 'प्रजा' है। जिसमें मननशीलता का विस्तार होता हो वह मनुष्य है। मनुष्यतन्त्र प्रजातन्त्र से ऊँचा है। 'नर = नेता', 'न रमते, न-र:'। नर नेता होता है। वह सांसारिक प्रपञ्चों में रमण नहीं करता। छोटी-छोटी-सी बातों में उलझा रहता है तो उसे स्मरण कराया जाता है कि तुम तो नर हो। नरतन्त्र श्रेष्ठ व्यवस्था है। कौन-सी व्यवस्था को चुनें? इस प्रश्न के उत्तर में कहा, प्र-जा। प्र-जा उत्तर होती है तो राष्ट्र को भी उत्तर बनाती है। 'उत्तर' शब्द का प्रयोग हम महापुरुषों के लिए करते हैं। राम को हम लोकोत्तर कहते हैं क्योंकि वे सांसारिक सामान्य स्थिति से ऊपर उठे हुए थे। उन्हें पुरुषोत्तम भी कहते हैं। मर्यादा-पालन करने के कारण ही 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' कहे जाते हैं। मर्यादा मर्य (मनुष्य) को खाने वाली होती है। सीता के प्रति असीम अनुराग होते हुए भी राम ने सीता को वन में भेजा। उस समय सीता ने जितना कष्ट सहा उतना ही राम ने भी। घोर संकट में भी व्यक्ति अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता। दुर्भिक्ष में भी माता, प्राप्त अन्न को अपने बालकों को खिलाती है, स्वयं भूखी रहती है।

हमारी इच्छाएँ अनन्त होती हैं। उनकी पूर्ति के लिए हम क्रियाएँ करते हैं। क्रिया के लिए ज्ञान आवश्यक होता है। इस प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया में सारा जीवन समाया हुआ है। सारी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं। फिर मनुष्य उन इच्छाओं में से महत्त्वपूर्ण का चयन करता है, बाकी को दबा देता है। पैसा सबको प्यारा होता है। पर, पैसा सही साधनों से कमाऊँ; यह सामान्य से ऊपर उठने की इच्छा है। जल सबको अच्छा लगता है। टी. वी. पर समुद्र, नदी अथवा तालाब का दृश्य देखकर बच्चे, बूढ़े सब प्रसन्न होते हैं क्योंकि मनुष्य प्रवाहधर्मी है। प्रवाह चाहे भावनाओं का हो या जल का हो, वह अच्छा लगता है। पर, प्रवाह किनारों में बँधकर चले तो ही अच्छा लगता है। जब नदी अपने किनारों को तोड़कर बहने लगती है तो सब कुछ नष्ट कर देती है। नदी के इसी प्रवाह को रोक कर बांध बनाकर सिंचाई आदि उपयोगी कार्य किए जा सकते हैं। इसी प्रकार इच्छाओं का प्रवाह अमर्यादित होता है तो दुःखदायी होता है।

आज हर दृष्टि से मर्यादाहीनता हमारे देश की विशेषता बनती जा रही है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः', इसे हम राष्ट्रीयता का 'घोषणापत्र' कह सकते हैं। इसमें नागरिक कहता है कि मैं प्रयनधर्मा हूं। अर्जुन के अनेक नामों में से एक नाम

पृथा-पुत्र था। कुन्ती का एक नाम पृथा था। पृथा न होती तो पांचों पुत्रों में स्नेह कैसे बराबर बांटती ? वह पांचों में क्यों, एक सौ एक में स्नेह बांटती थी और एक सौ पांच में ही क्यों, जो भी उसे मिलता था उसे प्रेम देती थी, सहायता करती थी।

हमने तर्क को अपने जीवन से विदा कर दिया है। तर्क को विदा कर देने पर अनेक श्रुतियां विफल हो जाती हैं। धर्म की अनेक परिभाषाओं में एक परिभाषा यह भी है—तर्केण अनुसन्धत्ते स धर्मः। जहां धर्म को तर्क कहा जाता है, वहां सामान्य से प्र-जा बनने की प्रक्रिया होती है। प्र-जा राष्ट्र को भी उत्तर बनाएगी। राष्ट्र के अनेक रूप हो सकते हैं। हमारा शरीर एक राष्ट्र है। भूखण्ड एक राष्ट्र है। आज सबसे बड़ी आवश्यकता है राष्ट्र के स्वरूप को समझने की और उसके अनुरूप जीवन को ढालने की। हम प्रभु से प्रार्थना करें कि वह हमें इस उत्तर राष्ट्र की उत्तम प्र-जा बनने की प्रेरणा दे जिससे हमारा राष्ट्र उत्तम हो।

सूर्योदय

सूर्यम् आविष् कृणुहि। ऋग्वेद ६.१७.३

[हे इन्द्र !] सूर्य को प्रकट करो।

संसार में सूर्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह स्थावर-जंगम का प्राण है। वह 'देवों द्वारा स्थापित चक्षु' चक्षुर् देव-हितम् है। सूर्य की आंख से ही हम संसार को देखते हैं। सूर्य शक्ति का अक्षय स्रोत है। सूर्य के साथ जीने और उससे प्रेरणा लेने की कामना की गई है।

समय की गति को भी सूर्य से मापा गया। सौर गणना के अनुसार ३६५ और १/४ दिन का एक वर्ष होता है। एक वर्ष में दो अयन होते हैं, उत्तरायण और दक्षिणायन। मकर संक्रान्ति के दिन सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण होता है। सब पर्वों में यह एक ही सौर उत्सव है, जो पूरे देश में उत्साहपूर्वक मनाया जाता है। शीत की जड़ता से मुक्ति का पर्व है यह। वसन्त प्रकृति की युवावस्था है और इसकी तैयारी सूर्य के उत्तरायण के साथ आरम्भ हो जाती है। 'दक्षिणायन' (=दक्षिण+अयन) का अर्थ है, दक्षिण की ओर गति। 'उत्तरायण' (=उत्तर+अयन) आ अर्थ है, उत्तर की ओर गति। जीवन में दोनों गतियां आवश्यक हैं। सूर्य के दक्षिणायन से हमें दक्ष बनने की ओर उत्तरायण से 'उत्-तर' होकर 'उत्-तम' होने की प्रेरणा मिलती है। वेद में अनेक स्थलों पर उत्तर होने की कामना की गई, उत्तरोऽहं भूयासम्।

भौतिक दृष्टि से, सूर्य सबको प्रकाश देता है। वह उदय होकर किसी के लिए चिन्तन का, किसी के लिए अच्छे स्थान की यात्रा का, किसी के लिए व्यापार का प्रेरक बनता है। वह संसार के सब कार्यों का 'सूत्रधार' है। सूर्य के उदय और अस्त के साथ जुड़कर हम अनेक प्रेरणाएँ लेते हैं। उदय के समय सूर्य ताम्र वर्ण का होता है और अस्त होने के समय भी ताम्र वर्ण का होता है। इससे एक-रूप रहने की प्रेरणा मिलती है—'सम्-पत्तौ च वि-पत्तौ च महताम् एक-रूपता' महान् पुरुष सम्पत्ति और विपत्ति में एक-रूप होते हैं। सूर्य की यह स्थिति हमें संकट और समृद्धि में आचरण की प्रेरणा देती है। सुख और दुःख में मन की एक-रूपता ही योग है।

अच्छा आदमी सम्पत्ति में प्रभु को धन्यवाद देता है और सबको बांटकर स्वयं खुश रहता है। विपत्ति में धैर्य रखकर वह संगी-साथियों के साथ समय बिता लेता है। हमारे यहाँ 'अकेले' आदमी की कल्पना ही नहीं की गई। 'अहं' का विसर्जन 'वयं' में होता है। 'मैं' को अच्छा नहीं माना गया। 'मैं, मैं' को सन्तों ने बकरी से उपमित किया है। 'तू, तू' करना भी अच्छा नहीं है। 'मैं' और 'तू' का सामञ्जस्य ही श्रेष्ठ जीवन है। आज सामाजिक दृष्टि लुप्त होती जा रही है। विश्व के ९३ देशों में युद्ध की स्थिति बनी हुई है। जब तक जीने की कामना नहीं होगी, शांति नहीं होगी। शांति स्थापित करने के लिए 'अहं' और 'वयं' में समन्वय की वैदिक दृष्टि को अपनाना होगा। इसी भावना से हमारे यहाँ परिवार की कल्पना की गई थी, समाज, राष्ट्र और विश्व-कुटुम्ब की कल्पना की गई थी। यह परिवारवाद ही भारतीयता की देन था। बड़े परिवार के लिए छोटे को त्यागने की बात कही गई, 'त्यजेद् एकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्....' यह हमारा धर्म है। हमारा धर्म समय और स्थान की भिन्नता से बदलता है। जब छोटों के प्रति हम प्रीति का व्यवहार करेंगे तो वह वात्सल्य धर्म होगा। बड़ों के साथ व्यवहार करने में श्रद्धा धर्म का, और बराबर वालों के साथ व्यवहार करने पर हम मित्र धर्म का पालन करते हैं। कर्मक्षेत्र में कर्म ही देव है। व्यक्ति जहाँ खड़ा है वहाँ वह अपनी मननशीलता से स्व-धर्म का निर्धारण करेगा। इन धर्मों का नियामक उसके भीतर का सूर्य है, जिसे प्रकट करने की मन्त्र में प्रार्थना की गई है।

हमारा शरीर पाँच मंजिली इमारत है। हमारा यह दिखाई देने वाला शरीर अन्नमय है। अन्न इसकी पुष्टि का आधार है। उससे सूक्ष्म शरीर प्राणमय है। प्राणमय शरीर से भी सूक्ष्म मनोमय शरीर और उससे भी सूक्ष्म विज्ञानमय शरीर है। शरीर में आत्म-सूर्य सदा प्रकाशित रहता है। शरीरों के अपने-अपने बंधन हैं, किसी का सामान्य, किसी का दृढ़। इन बंधनों से स्वतन्त्र होना है।

स्वतन्त्रता का अभिप्राय बन्धनमुक्ति नहीं वरन् उत्तम बन्धन में बंध जाना है। बन्धनान् मृत्योर् मुक्षीय, मामृतात्, 'मृत्यु के बन्धन से मुक्त कर, अमरता के बन्धन में बांध लो।'

एक समय स्थिति ऐसी बनी कि हम अपने देश में ही पराए माने जाने लगे—'आर्य बाहर से आए थे।' वे कहाँ से आए थे, इस तथ्य का पता लगाने के लिए अनेक कल्पनाएँ की गई। वेद के इस स्थल 'सूर्यम् आविष् कृणुहि' को लेकर 'लोकमान्य' तिलक ने आर्यों के उत्तरी ध्रुव प्रदेश का निवासी बताया। उस प्रदेश में तीन माह के दिन और तीन माह की रात्रियाँ होती हैं। दीर्घ रात्रियों में सूर्य को प्रकट कराने वाली प्रार्थना सार्थक है। वेद में उषाओं के मनमोहक वर्णन देखकर माना गया कि ऐसी उषाएँ उसी प्रदेश में होती हैं। वहाँ उन्नीस दिन के बराबर उषाएँ होती हैं।

हम अपने भीतर अनन्त शक्तियों के केन्द्र सूर्य को प्रकटाना चाहते हैं। कवि ने कहा, 'साधना का सूर्य प्रकटा दे प्रखर....।' पृथक्-पृथक् पिण्डों में जब चेतना का उदय होगा तो, शरीरभेद से पृथक् प्रतीत होते हुए भी सबकी चेतना एक होगी। भौतिक दृष्टि से अनेक होकर भी हम आध्यात्मिक दृष्टि से एक हैं। इसी कारण भारत में परिवार, समाज और राष्ट्र की भावना का उदय हुआ।

आज समाज को एकता की आवश्यकता है, राष्ट्र को एकता की आवश्यकता है, भूतल को मानवीय चेतना की आवश्यकता है। हम उस चेतना को अनुभव करें जिसमें बंधकर सब एक दूसरे के जीवन को प्रशस्त बना सकते हैं।

पूरा मन्त्र—

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः।
आविःसूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥ ऋ. ६.१७.३

अर्थ : पूर्व की तरह रक्षण कर। यह कार्य तुमको आनन्द दे। ज्ञान का काव्य सुन। और स्तुति के वचनों से बढ़ता रहा। सूर्य को प्रकाशित कर। अन्न हमें दे। शत्रु का नाश कर। गौओं को प्रकाशित कर।

परमात्मा से मैत्री

त्वं जामिर् जनानाम् अग्ने ! मित्रो असि प्रियः
सखा सखिभ्य ईड्य। ऋ. १.७५.४

परमात्मा अग्रणी है, सबका बन्धु है, परम मित्र है। सखाओं के लिए प्रशंसनीय सखा है। वह सबका आत्मीय है। शास्त्रों में मित्र को अनेक प्रकार से याद किया गया है। मित्र वह है जो विपत्ति में काम आए—

धीरज, धरम, मित्र अरु नारी, आपतकाल परखिए चारी ।

मित्र कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर चलाने वाला होता है। मित्र मृत्यु से बचाने वाला होता है। मित्र मित करने वाला होता है। वह हमारी चेतना को संजोकर रखने वाला होता है। मित्र एकांत सखा है। सखा समान ख्याति वाला होता है। वह 'जामि' है। राजस्थानी में यह शब्द 'जामण जाया बीर' के रूप सुरक्षित है। वह भाईचारा निभाने वाला है।

मन्त्र में परमात्मा को तीन नामों (जामिः, मित्र और सखा) से संबोधित किया गया है। यहाँ महत्त्व इन नामों का नहीं वरन् 'सखिभ्यः' शब्द का है। परमात्मा सखा है पर वह 'सखाओं के लिए' सखा है। यदि हम उसके सखा नहीं बनेंगे तो वह भी हमारा सखा नहीं बन सकेगा। हम परमात्मा के सखा कैसे बनें ?

परमात्मा के असंख्य नाम हैं। प्रत्येक नाम किसी न किसी गुण को प्रदर्शित करता है। हम अच्छे गुणों को धारण करके उसके सखा बन सकते हैं। अपने आपको उसके गुणों में प्रशिक्षित करने की सीख जीवन से ही ली जाती है। जीवन तो अपने आपमें किताब है। हमारे यहाँ स्वाध्याय की बड़ी महिमा है। सद्ग्रन्थों का अध्ययन करें। साथ ही अपना भी अध्ययन करें। खुली आँखों से संसार की सुन्दरता को निरखें, अच्छाई ग्रहण करें। आँख मूंदकर अपने विषय में भी सोचें, यह भी स्वाध्याय है। हम महापुरुषों के जीवन का अध्ययन करें। उनके जीवन से भी अच्छाई ग्रहण करें। आज रामनवमी है, राम का जन्मदिन है। हम राम के जीवन से भी सीखें।

आदमी की पहचान दो स्थितियों में होती है। (१) जब वह दीन-हीन अवस्था में होता है। (२) जब वह उत्कर्ष की स्थिति में होता है। इन स्थितियों में व्यक्ति कैसा व्यवहार करता है, इसी से वह जाना जाता है। राम के जीवन में दोनों स्थितियां आई थीं। एक स्थिति वह थी जब राम का राजतिलक होने वाला था। उसी समय कैकेयी माता द्वारा वनगमन का आदेश मिला था। राम शांत थे। संकट के समय भी वे याद रखते थे कि बात एक कहना और उसका पालन करना। माता को शंका थी कि राम उनकी बात को माने या न माने। इसलिए वह राम को अपने वचन की बार-बार याद दिलाती है। राम ने उनकी शंका को यह कहकर निर्मूल कर दिया कि रामो द्विर् नाभिभाषते। दूसरी स्थिति लंका-विजय के बाद आई थी। रावण की पराजय के बाद उन्हें सीता मिल गई थी, साथ में सोने की लंका भी। वे आसानी से उसे अपने राज्य में मिला सकते थे। यह उनके जीवन का उत्कर्ष-काल था। उस समय राम का व्यवहार कैसा था, यह देखना चाहिए। उस समय श्री राम कम से कम बोले। धैर्यपूर्वक कष्ट

से, अद्भुत साहस से जब लंका का राज्य मिला था उस समय राम को अयोध्या का ध्यान आया, अपनी माता की याद आई, जन्मभूमि की याद आई—

अपि स्वर्ण-मयी लंका, न मे लक्ष्मण ! रोचते,
जननी जन्म-भूमिश् च, स्वर्गाद् अपि गरीयसी ।

'जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी महान् है।' मां ही हमको बांध सकती है। सारी धरती को, सम्पूर्ण राष्ट्र को एक करने के लिए इससे बड़ी कोई बात नहीं होती कि उसे माँ मानते हैं। माँ के समान पवित्र सम्बन्ध संसार में कोई नहीं। आदमी जब यह सम्बन्ध भूल जाता है तब वह आदमी नहीं रहता।

हम एक दूसरे की वेदना को अनुभव करना भी सीखें। दुःख-दर्द को जो नहीं समझता वह आदमी नहीं होता। जिस आदमी को दुःख अनुभव नहीं होता उसे कोढ़ होता है। कोढ़ के विषय में जापान में काफी खोज हुई है। बाहरी तौर पर दर्द अनुभव न करना भी कितना घातक है ! मन के स्तर पर यदि वेदना को अनुभव न करें तब क्या होगा—यह सोचा जा सकता है। धार्मिक चिन्तन भी मनुष्य में मानवीयता जगाने के लिए है। राज्य-संस्था का उद्देश्य भी यही है कि मनुष्य के भीतर बैठे जानवर समाप्त हों। 'रक्ष' का उल्टा 'क्षर' है। जो हमारे जीवन की मान्यताओं का क्षरण करते हों उनका नाश करना मनुष्य का स्वभाव है। उसे इसकी रक्षा करनी चाहिए। दूसरों के दुःख-दर्द को अनुभव करने की क्षमता समाप्त होने पर मिलिन्द हिंसक बन गया था। मैरी ट्यूडर आदमियों को जला देती थी। करुणा की, सद्व्यवहार की, दूसरों के किए परिश्रम को आदर देने की, स्वयं परिश्रम करने की बात जब तक नहीं आती तब तक वह मनुष्य नहीं है। वह पशु भी नहीं क्योंकि पशु में भी कुछ अच्छे गुण होते हैं। ऐसे मनुष्य को पशु कहना पशु का अपमान होगा। हम मनुष्यता की रक्षा करें तब हम सखा बन सकते हैं। आज हम प्रार्थना करें प्रभु से कि वह सच्चे सखा बनने की प्रेरणा प्रदान करे।'

बढ़ें ज्योति की ओर

असपत्नं नो अधराद्, असपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज, ज्योतिः शूर पुरस् कृधि ।। अथर्व. ८.५.१७

असपत्नम् नः अधरात् असपत्नम् नः उत्-तरात् । इन्द्र असपत्नम् नः पश्चात् ज्योतिः शूर पुरः कृधि ।

१ (शूर इन्द्र ! नः अधराद् असपत्नं [कृधि]) हे शूर इन्द्र ! हमको नीचे से शत्रुरहित [करो] ।

२ (नः उत्-तरात् असपत्नं [कृधि]) हमको ऊपर से शत्रुरहित [करो] ।

३ (नः पश्चात् अराश्नं [कृधि]) हमको पीछे से शत्रुरहित [करो]।
४ ([नः] पुरः ज्योतिः कृधि) हमारे आगे ज्योति कीजिए।

मन्त्र के ऋषि शुक्र ज्योति के उपासक हैं। जो ज्योति की उपासना करना चाहे, वह, शुक्र-दृष्ट इस मन्त्र से इन्द्र से ज्योति प्रदान करने हेतु प्रार्थना करे। इन्द्र आत्म, आत्म-ऐश्वर्य में रमने वाले परमात्मा और जीवात्मा का नाम है। उसका एक विशेषण मन्त्र में आया है—शूर। वह शक्तिमान् है इसलिए उसे 'शूर' कहा गया है। समर्थ से प्रार्थना की जाए तभी फलवती होगी। प्रभु सबसे समर्थ है। उसको पुकारें। पुकार कभी निष्फल नहीं होगी।

ज्योति के उपासक शुक्र बनकर हम सब भी पुकारें उस अपने प्रभु को—ज्योतिर्मय को, 'प्रभो! हमको ज्योति दो, प्रकाश दो। हम लक्ष्य चुन कर सामने की ओर जिस मार्ग पर बढ़ रहे हैं वह ज्योतिर्मय हो। प्रकाश में हमारा हर क़दम सही समय पर, सही दिशा में, सही तरीके से बढ़ेगा। हम विपथगामी नहीं होंगे।

'अन्तर्यामिन्! केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हमारी राह प्रकाश से भरी हुई हो; हमारी आँखें भी सही मार्ग पहचानने में सक्षम होनी चाहिएँ। इसके लिए आँखों की ज्योति अक्षुण्ण रहे।

'आँखों की ज्योति भी तभी निर्मल और निष्कलुष रह सकती है जब मन निर्मल और निष्कलुष हो और मन तब ऐसा रह सकता है जब उसमें आत्मा की आभा झलकती रहे, आत्मा की ज्योति से आलोकित बुद्धि उसे निरन्तर प्रेरणा देती रहे। प्रभो! इसी लिए हम बुद्धि को, प्राणों को और शरीर को आपको अर्पित करते हैं। आप इसे अपनी राह पर चलाइए, अपनी ओर आने के लिए प्रेरित कीजिए।'

'और प्रभो! एक बात और; हम चलें कैसे आपके मार्ग पर? यह चारों ओर से ढकने वाला, अनेक रूप धारण करके छुप-छुप कर वार करने वाला वृत्र, न जाने कब से और न जाने क्यों, हमसे शत्रुता पाले बैठा है। कभी वह इस दिशा से आता है तो कभी उस दिशा से आता है। कभी रोग बन कर आता है तो कभी शोक बनकर आता है। कभी भ्रम बन जाता है तो कभी उद्वेग बनकर चित्तवृत्ति को दोलायमान कर देता है। जब भी आगे बढ़ते हैं, हर बार यह रोक देता है, टोक देता है, मार्ग अवरुद्ध कर देता है। इसके इतने रूप और हम अकेले, बेचारे। ना, ना, हमारे वश की बात नहीं है इससे निपटना। इसे तो आप ही सँभालेंगे। आप शूर हैं। शूर का काम है आर्त की रक्षा करना।'

'हे शक्तिपुञ्ज! हमारे भीतर शक्ति का सञ्चार करने वाले आप ही हैं। हमारी शक्ति तो सीमित है। वह शत्रुओं से लड़ने में ही खर्च होती रहेगी तो आगे बढ़ने के लिए कितनी शेष रह जाएगी? इसलिए आप ऐसा कीजिए जिससे हम सब दिशाओं से शत्रुमुक्त हों और हम ज्योतिर्मय मार्ग पर बढ़ सकें। ▫

तैराक

अश्मन्वती रीयते संरभध्वम्, उत्तिष्ठत प्रतरता सखायः ।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा, अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ।

अथर्ववेद १२.२.२६

(अश्मन्वती) पत्थरों से भरी [नदी] (रीयते) बह रही है। (सखायः) हे मित्रो ! (सं-रभध्वं, उत्तिष्ठत, प्र-तरत) हिम्मत करो, उठो, पार करो। (ये दुरेवा असन् अत्र जहीत) जो खोटी चालें [हैं उनको] यहीं छोड़ो। (अनमीवान्) रोगरहित (वाजान्) अन्नों [—ऐश्वर्य सुखों—] को/के लिए (अभि-उत्-तरेम) [इस पत्थर भरी—विघ्न-बाधाओं की नदी को] अभिमुख होकर पार करें।

जो तैरें, वह तरुण है। संसार एक नदी है जिसे पार करने का सामर्थ्य तरुण को जुटाना है। पानी में तो हर कोई तैर सकता है। यह तो पत्थरों से भरी हुई नदी है। इसे पार करने का साहस जुटाना है। मन्त्र कहता है—बैठे मत रहो। साहस करके पार कर जाओ इसे। हारे-मनमारे बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। विघ्नों से भरी कष्टदायक नदी पार कर जाओगे तो नीरोग अन्नों—जीवनधारक तत्त्वों को प्राप्त करोगे।

जीवन स्वयं एक नदी है। वह मैदान में बहने वाली नदी नहीं है। उसे पहाड़ी, बरसाती नदी की तरह मानना चाहिए जिसमें पानी बहुत कम, केवल वर्षा के समय बहता है। बाकी समय तो वह कंकड़ीली, पथरीली ही रहती है। पद-पद पर उसे शिलाखण्डों से, विविध अवरोधों से टकराकर रास्ता बनाना होता है। ऐसी नदी में तैरना या अपनी नाव को खेना जीवट का काम है। कमजोर मन वाला तो निराश होकर किनारे पर ही बैठा रह जाएगा पर अच्छा तैराक कवि आनन्द मिश्र के शब्दों में कहेगा—

मैं हूं गोताखोर, मुझे दूर जाना होगा।
तुम तट पर बैठ, भँवर की बातें किया करो।

तैराक को तब तक चैन नहीं मिलेगा, जब तक वह लहरों के थपेड़े खाकर भी अपने कौशल का परिचय न दे सके। ऐसे ही तरुण को वेदमाता प्रेरणा देती है—'पथरीली नदी बह रही है। हो जा तैयार पार करने के लिए। उठ, बैठा मत रह, साहस करके हो जा पार। बाधाओं की परवाह मत कर। उनको दूर भगा। तुझे शरीर के निर्वाह के लिए स्वास्थ्यकर, रोगरहित अन्न की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति के लिए इस नदी को पार करना ही होगा।'

चुनौती भरा जीवन नए आनन्द को जन्म देता है। जीवन की पथरीली नदी को पार करने का निश्चय करते ही जीवन उत्सव बन जाएगा। इन्द्रियों के विविध अन्न हैं। वे सत्सङ्कल्प से ही नीरोग बन सकते हैं। आंखों का अन्न रूप है।

सुन्दर रूप ही को देखो। कान का अन्न शब्द है। सुन्दर प्रेरणादायक वेदप्रवचन ही सुनो। नासिका से गन्धवती धरती की विविध गन्धों को लेते हुए उसके लिए आत्मबलिदान करने को प्रस्तुत रहो। रसना से मधुर, पुष्टिकर वस्तुओं का आस्वादन करो। वाणी से प्रीतिकर तथा हितकर वचन वोलो। हाथों को पीड़ित की सेवा, सहायता और रक्षा के लिए तैयार रखो। पैरों का लक्ष्य कर्मस्थल तक जाना हो। इस तरह शरीर को स्वस्थ वना लोगे तो उससे नदी को तैर कर पार किया जा सकेगा। नीरोग काया से बढ़ कर कोई वल नहीं।

□

सुकर्मों का विस्तार करें

अरं कृण्वन्तु वेदिं, समग्निमिन्धतां पुरः
तत्रामृतस्य केतनं, यज्ञं ते तनवामहे। ऋग्वेद १.१७०.४

अरम् कृण्वन्तु वेदिम् सम् अग्निम् इन्धताम् पुरः। तत्र अ-मृतस्य केतनम् यज्ञम् ते तनवामहे।

१ (वेदिम् अरम् कृण्वन्तु) वेदि को अलंकृत करो।

२ (पुरः अग्नि सम्-इन्धताम्) सामने अग्नि को प्रज्वलित करो।

३ (तत्र ते अ-मृतस्य केतनम् यज्ञम् तनवामहे) वहां तुम्हारे लिए अमरता के प्रज्ञापक यज्ञ का विस्तार करें।

वेद का प्रयोजन यज्ञ है और यज्ञ से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। साधक ने स्वाध्याय करके जो वेद (ज्ञान) संचित किया है उसके द्वारा वेदि को सुसज्जित किया जाना चाहिए। वेद (ज्ञान) और वेदि (ज्ञान की साधनाभूमि) का अभिन्न सम्बन्ध है। इस मन्त्र में वेदादेश है कि वेदि को सुसज्जित करो, उस पर सामने अग्नि को प्रज्वलित करो।

वेदि ज्ञान का प्रयोग करने के स्थान को कहेंगे याने कर्मभूमि। जिस स्थान पर हम कर्म करें वह स्थान सुसज्जित रहना चाहिए। वहां बाहरी सौन्दर्य तो हो ही, सुकर्मों का सौन्दर्य भी हो। असली सज्जा तो वही है। जो कर्म करें, वह सत्कर्म हो, सुकर्म हो। सुकर्म से कर्मशाला की शोभा बढ़ती है। काम अकेले करें तो वह दूसरों के कर्मों का पूरक बने। यदि कई लोग मिलकर करें तो सबके मन मिले रहें। एक श्रमिक दूसरे श्रमिक को अपमानित न करे। सबको यह पता रहे कि वे किस उद्देश्य से काम कर रहे हैं। मालिक और मजदूरों का संघर्ष भी न हो। हम नित्य हवन करते हैं तो हवन की क्रिया को निर्दोष बनाना चाहते हैं। निर्दोष होने से ही हवन को मख (म+ख=छिद्ररहित) कहते हैं। ऐसे ही प्रत्येक

कर्म को हम निर्दोष बनाएँ, यज्ञ (श्रेष्ठ कर्म) का रूप प्रदान करें। जो प्रत्येक कर्म को निर्दोष बनाकर कर्मभूमि को अलंकृत करता है वही आर्य है, श्रेष्ठ पुरुष है। इस मन्त्र में आर्य की कितनी सुन्दर परिभाषा दी हुई है—वेदिं अरङ्करोति इति आर्यः जो कर्मभूमि को सुकर्मों से अलंकृत करे, वह आर्य है।

आर्य क्या करे ? सामने अग्नि को प्रज्वलित करे। इससे वेदि अलंकृत होती है। अग्नि को प्रज्वलित करने का अर्थ है—ऐसे काम करें जिनसे अन्धकार का नाश हो, सब जगह प्रकाश फैले। अग्नि की लपट सदैव ऊपर को जाती है उसी तरह हमारे सभी कर्मों का लक्ष्य ऊपर की ओर हो। हम उन्नति करें; अवगति या अधोगति से बचें। उन्नति की चाह हमारे जीवन को यज्ञ बना देगी। जीवन का लक्ष्य है यज्ञ करना, यज्ञमय बनना, यज्ञ-पुरुष को समर्पित होना। इस मन्त्र में मानव की सर्वोत्तम कामना को प्रकट किया गया है—यज्ञं तनवामहे अर्थात् यज्ञ का विस्तार करें। जो काम हाथ में लें, उसे पूरी तल्लीनता से, सुन्दर से सुन्दर ढंग से करें। जिस स्थान पर काम करें, उसे अपने सुकर्मों से सुसज्जित करें। हमारे सारे काम प्रगति के सूचक हों, प्रकाश के वर्धक हों। तब जीवन यज्ञ बनेगा, जीवन में यज्ञ का विस्तार होगा। शरीर का नाम तनू (तन) अर्थात् विस्तार करने वाला है; यज्ञ का विस्तार करने वाला, यज्ञ का साधक।

शरीर से जिस यज्ञ का विस्तार किया जाएगा, वह साधारण यज्ञ नहीं होगा, अमरता का सूचक-प्रज्ञापक होगा। सुकर्म करने से आदमी अमर हो जाता है। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी सुकर्मों की गन्ध नष्ट नहीं होती, यश बना रहता है। जो व्यक्ति अमर होना चाहे वह अमर कर देने वाला यज्ञ करे। सुसज्जित कर्मभूमि पर, उन्नति की चाह लेकर, सुकर्म करते रहने से व्यक्ति अमर हो जाता है।

अमर तो आत्मा होता है, शरीर अमर नहीं हो सकता। प्रत्येक जीवधारी को अमरता का स्रोत—आत्मा मिला है। वही अग्रणी—अग्नि है। सारी इन्द्रियां अपने-अपने कर्म द्वारा उसी में आहुति देती हैं। आत्मा से प्रेरित, आत्मा के लिए, आत्मा को सामने रखकर जो भी कर्म किए जाएंगे वे अमरता के प्रज्ञापक होंगे। मन्त्र का ऋषि और देवता इन्द्र है। इन्द्र आत्मा का नाम है। वह स्वयं को आदेश देता है कि ज्ञान को कर्म में फलीभूत करो जिससे कर्मस्थल सुसज्जित हो। तत्पश्चात् वह अग्रणी आत्मा को जागरित करने का विधान करता है और अन्त में अमरता के सूचक यज्ञ का विस्तार करने की प्रतिज्ञा करता है।

कर्मभूमि को करो अलंकृत
करो पुरोहित अग्नि समिद्ध।
वहाँ अमृत के केतु यज्ञ को
करते रहें सदैव प्रसिद्ध। □

दीर्घायु होने का उपाय

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते, देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं, स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ।

अथर्ववेद १.३५.२

न एनम् रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानाम् ओजः प्रथम-जम् हि एतत् । यः बिभर्ति दाक्षायणम् हिरण्यम् सः जीवेषु कृणुते दीर्घम् आयुः ।

१ (एनं न रक्षांसि, न पिशाचाः सहन्ते) इसको न राक्षस [और] न पिशाच हराते हैं।

२ (हि एतत् देवानां प्रथमजं ओजः) निश्चय ही यह देवों का प्रथम उत्पन्न ओज [है]।

३ (यः दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति) जो अतिशय दक्षतावर्द्धक हिरण्य को धारण करता है;

४ (सः जीवेषु दीर्घम् आयुः कृणुते) वह जीवों में दीर्घ आयु [वाला] होता है।

हिरण्य का अर्थ है हितकारी और रमणीय। हिरण्य स्वर्ण को भी कहते हैं। दीर्घ आयु प्राप्त करने के लिए दाक्षायण हिरण्य को धारण करें अर्थात् दक्षता उत्पन्न करने वाली, हितकर और रमणीय दिनचर्या अपनाएँ। आहार, विहार, चिन्तन, विचार और व्यवहार ऐसा हो जो नए से नए कामों को करने की क्षमता और कुशलता जगाए, किसी तरह का विचार पैदा न करे। इसी का नाम हिरण्य है। धातु के टुकड़ों का नाम नहीं। यदि ऐसा होता तो रोगनिदान हेतु स्वर्ण का ही प्रयोग करते। उसकी भस्म क्यों बनाते? दाक्षायण हिरण्य वही है जिसको गीता में कर्म-कौशल कहा है, योग कहा है। हितकारी और मन रमाने वाली दिनचर्या अपनाने पर जीवनी-शक्ति क्षीण करने वाले सब तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। इस दिव्य योग से ही आयु बढ़ती है। यह दीर्घायु प्राप्ति का सुनहरा सूत्र है।

जीवन किसको प्यारा नहीं होता? सभी जिन्दगी जीना चाहते हैं। जीवन का सूत्र प्रकृति ने दिया है। इससे हम कितने जुड़े रहना चाहते हैं, यह हमारे सोचने का विषय है। सब जीवों का जीवन-सूत्र बराबर होता है; पर सब पूरी जिन्दगी कहाँ जी पाते हैं? कोई-कोई तो अल्पायु में ही शरीर छोड़ देता है। कहीं शरीर साथ नहीं देता, कहीं मन साथ नहीं देता, कहीं बुद्धि साथ नहीं देती। ये सब अनुकूल हों, जीवन-सूत्र को थामे रहें, तो जीवन चले। यह जीवन-सूत्र को थामने की कला ही तो दाक्षायण हिरण्य है।

दक्ष को प्रजापति माना जाता है। जीवन को सम्भालने वाला, जीवन-सूत्र को थामने वाला होता है दक्ष। वह शरीर, प्राण और मन को बुद्धि से नियंत्रित करता है। वह भीतरी और बाहरी गतियों का समन्वय करता है। यह दक्ष

(कौशल) ही जीवन-यज्ञ का नियामक है। शिव से बिछुड़ी हुई सती दक्ष के यज्ञ में जल जाती है। शिव से जुड़ने के लिए वह पैदा भी तो दक्ष के यज्ञ से ही होती है। सती का अर्थ है—अस्तित्व, जिन्दगी। शिव की ओर बढ़ने पर जिन्दगी अस्तित्व में आती है। शिव से विमुख होते ही वह जल जाती है। दाहकता का दक्षता से सम्बन्ध है। जो तप कर अधिक खरा साबित हो वह हिरण्य है। इस हिरण्य को धारण करने वाला अपनी आयु को बढ़ा लेता है।

दाक्षायण हिरण्य को देवों का प्रथमज—सबसे पहले पैदा होने वाला ओज कहा जाता है। ओज कहाँ से आता है? देवों से आता है, दिव्यगुणों को धारण करने से प्रकट होता है। जो जिन्दगी जीने की कला जानते हैं, दाक्षायण हिरण्य धारण करते हैं, उनमें दिव्य गुण प्रकट होते हैं। उन गुणों के साथ ओज भी प्रकट होता है। ओजस्वी व्यक्ति का न राक्षस कुछ बिगाड़ सकते हैं, न पिशाच।

जो धारण करता है दाक्षायण हिरण्य को
वह जीवों में दीर्घ आयु पाकर जीता है
राक्षस और पिशाच नहीं छू सकते उसको
देवों का वह प्रथम ओज जगता है उसमें।

ॐ

सुगम मार्ग

ये ते पन्थाः सवितः! पूर्व्यासो, ऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिर् नो अद्य पथिभिः सुगेभी, रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव!

ऋग्वेद १.३५.११

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासः अ+रेणवः सु-कृताः अन्तरिक्षे। तेभिः नः अद्य पथि-भिः सु-गेभिः रक्षः च नः अधि च ब्रूहि देव!

१ (सवितः ये ते पन्थाः पूर्व्यासः अ+रेणवः, अन्तरिक्षे सु-कृताः) हे सवितः! जो तुम्हारे मार्ग पूर्व-निर्मित, धूलि-रहित[और] अन्तरिक्ष में सु-निर्धारित[हैं];

२ (तेभिः सु-गेभिः पथि-भिः अद्य च नः रक्ष) उन सुगम्य मार्गों से आज हमारी रक्षा कीजिए; और

३ (देव! नः अधिः ब्रूहि च) हे देव! हमसे [प्रेरक वचन] कहें।

परम पिता परमेश्वर की निर्माणकारी शक्ति का नाम सविता है। सविता के विविध मार्गों या निर्माण-पद्धतियों की ओर इस मन्त्र में संकेत किया गया है। किसी भी निर्माण-कार्य में जुटने पर साधक को दो चीजों की आवश्यकता होती है,

एक तो, बुद्धि की, विवेक की, संकल्प-बल की और दूसरे, कार्य सम्पन्न करने की विधि की, know-how की। इन दोनों के लिए सविता को पुकारा जाता है। सावित्र मन्त्र में सु-बुद्धि को प्रेरित करने के लिए प्रार्थना की गई है—धियो यो नः प्र-चोदयात्। यहां इस मन्त्र में कार्य-विधि का ज्ञान कराने के लिए प्रार्थना की गई है। सविता सभी निर्माण-कार्यों की निर्माण-प्रक्रिया को जानता है। जानकार से ही ऐसी प्रार्थना की जा सकती है।

प्रभु से प्रार्थना है—'हे प्रभो ! आप प्रत्येक कार्य के पूर्व निश्चित मार्ग के जानकार हैं, ऐसे मार्ग के, जिसमें कोई रुकावट आने की सम्भावना नहीं होती और जिसकी अन्तर्मन में सु-स्फुरणा होती है। मार्ग तो अनेक हो सकते हैं; पर हमको सीधा, सुकर, सुगम मार्ग सुझा। यदि उसमें बाधा आ खड़ी हो तो उसका विकल्प भी हमें ज्ञात हो, जिससे हम घबरा न जाएँ। जब ऐसे मार्ग पर चलकर हम निर्माण कार्य में जुटे हुए हों तब हमारी रक्षा कीजिए।'

निर्माण-कार्य सोत्साह किए जाएँ, निश्चिन्त होकर किए जाएँ, आत्म-विश्वासपूर्वक किए जाएँ, सफलता की सुनिश्चित धारणा के साथ किए जाएँ—इन सब बातों के साथ साधक यह भी कामना करता है कि परमेश्वर का सम्बल उसे मिलता ही रहे। इसलिए वह कहता है—'परम पिता परमात्मन् ! जब हम कार्य में जुटे हों तब, आप उस कर्म में व्याप्त होकर हमसे बोलते रहें, वार्तालाप करते रहें। हर काम को आपके संरक्षण में, आपके सान्निध्य में करें और आपसे पूछ-पूछ कर करें, आपकी इच्छा के अनुकूल, इच्छा का अनुवर्तन करते हुए करें—

हो प्रभु ! सदा-सदा ही तेरा मेरे सिर पर हाथ।
कृपा-कटाक्षों से हम सबको करते रहो सनाथ॥

जो कुछ करूँ, सुनूँ उसमें ही तेरे सुखकर बोल।
भटकूँ तो कर गह अपना लो, अपना स्मित मुख खोल॥

जन्म-जन्म से तेरी वाणी सुनने का है चाव।
सुगम पथों पर प्रेरित कर प्रभु ! दूर करो भटकाव॥

जब सुकर्मों में, सत्कर्मों में जुटने का अर्थ परम प्रभु से बातचीत करना हो जाए तो प्रत्येक व्यक्ति कर्ममय जीवन जीना चाहेगा। छोटा-बड़ा कैसा भी कार्य हो, वह उसे भगवदाज्ञा मान कर करेगा। उस काम में भगवत्साक्षात्कार कर लेगा। जब श्रान्त-क्लान्त होकर शरीर छोड़ेगा तब भी कहेगा—'प्रभो ! तेरी इच्छा पूर्ण हो। 'मे मनः ओ३म् भव' कहकर उस राम में रमने की इच्छा प्रकट करेगा। जीवन को बोझा समझ कर ढोने वालों को यह आनन्द कहां !

□

ममता का बेटा

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने ! पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन् ।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा, दिप्सन्त इद् रिपवो नाह देभुः ।

ऋग्वेद १.१४७.३

ये पायवः मामतेयम् ते अग्ने पश्यन्तः अन्धम् दुरितात् अरक्षन् ।
ररक्ष तान् सु-कृतः विश्व-वेदाः दिप्सन्तः इत् रिपवः न अह देभुः ।

(अग्ने !) हे अग्ने ! (ते ये पायवः) तेरी जिन पालक [रश्मियों] ने (अंधं मामतेयं पश्यन्तः) अन्धे ममता के बेटे को देखते हुए (दुरितात् अरक्षन्) दुरितों से बचाया। (तान् सुकृतः विश्ववेदाः ररक्ष) सर्वज्ञ तूने उन सुकृतियों की रक्षा की; [परन्तु] (दिप्सन्त इत् रिपवः अह न देभुः) दंभी शत्रु भी [तुझे] दबा न पाए।

इस मन्त्र में दीर्घतमा अग्नि—अग्रणी अन्तरात्मा को पुकार रहा है। 'दीर्घतमा' का अर्थ है दीर्घकाल तक अन्धकार में रहने वाला अर्थात् जन्मान्ध। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जन्मान्ध में आत्मरक्षा की भावना सबसे अधिक पाई जाती है। इस मन्त्र में भी आत्मरक्षा का स्वर ही सबसे अधिक प्रबल है। 'पायु' पालक रश्मियों या रक्षा उपकरणों का नाम है। दृष्टिहीन के भीतर बैठा हुआ अग्रणी आत्मा उसे कई प्रकार के रक्षा उपाय सुझाता रहता है, रक्षा-उपकरण उपलब्ध कराता रहता है। उनको पाकर उसमें आत्मविश्वास जागता है। जिसके बल पर वह नेत्र न होने पर भी देखने लगता है। तब वह कुपथ पर नहीं चलता, सुपथ को पा लेता है। नेत्रहीन को दुर्गति से बचाने वाला अंतरात्मा ही है। अग्नि या अन्तरात्मा का निर्देशन पाने वाला दीर्घतमा एक नया स्वरूप पा लेता है—'तम को फाड़ने वाला' बन जाता है—तमः द्रघ्णाति इति।

दीर्घतमा—तम को विदीर्ण करने वाला, ममता का बेटा होता है। सारे समाज का ममत्व उसे प्राप्त होता है। इधर साधना के क्षेत्र में वह अपने 'स्व'—ममत्व का साक्षात्कार कर लेता है। तब भौतिक नेत्र भले ही उसके पास न हों; पर उसके भीतरी नेत्र खुल जाते हैं।

अग्नि तो सर्वज्ञ है। वह नेकचलन और बदचलन की पहचान कर लेता है। वह सदाचारियों की रक्षा करता है और दुराचारी शत्रु उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते।

आँख न होना उतनी बड़ी हानि नहीं है जितनी बड़ी हानि भीतर की आँख खोलने का प्रयत्न न करने से होती है। यदि प्रज्ञा का चक्षु खुल जाए तो साधक अपने स्वरूप को (ममत्व को) पहचान लेता है, ममता का बेटा बन जाता है। सामान्य व्यवहार में सारा समाज दृष्टिहीन को ममता प्रदान करे तो उन सबको

ममता ही दृष्टिहीन की आंख बन जाती है। अन्धे की लकड़ी कौन? समाज की ममता और उसकी अपनी अपने स्वरूप को पहचानने की क्षमता अथवा प्रज्ञा का बल। प्रज्ञाचक्षु तो आंखों वाले से भी अधिक समर्थ हो सकता है।

वस्तुत: ये चर्मचक्षु चक्षु हैं ही नहीं। चक्षु तो बुद्धि का नाम है, प्रज्ञा का नाम है। प्रज्ञा का चक्षु सबके पास होता है। जिनके चर्मचक्षु नहीं होते उनको भी प्राप्त होता है। यही शिव का तीसरा नेत्र है। ममता के बेटे का तीसरा नेत्र खुला रहता है।

सूरज के कार्यकलाप को देखिए। वह रात्रि के अन्धकार में खो जाता है और समय पर अन्धकार को फाड़ कर प्रकट हो जाता है। ऐसा ही हमारी बुद्धि करती है। वह बहिर्मुखी होने पर मन, प्राण और अन्नमय कोशों में भटकती हुई दीर्घकाल तक अन्धकार में खोई रहती है। योगसाधना से विवेक का सूर्य उगता है। तीसरा नेत्र खुल जाता है। अन्धकार फट जाता है। दुरित नष्ट हो जाते हैं। सु-कृतों के लिए रास्ता खुल जाता है। भले-बुरे की पहचान करने की क्षमता जाग जाती है। इसी क्षमता को मन्त्र में 'पायु' कहा गया है। इसके द्वारा ममता का बेटा अच्छे-बुरे सब को देख लेता है। दुरित और सु-कृत में से एक को; केवल सु-कृत को ही चुन सके, ऐसा सामर्थ्य पा लेता है। तब उसे न भीतर के काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु दबा सकते हैं और न कोई बाहरी प्रकृति के प्रकोप उसके मार्ग में बाधा उपस्थित कर सकते हैं।

□

पापनाशक

त्वं हि विश्वतोमुख ! विश्वतः परिभूर् असि। अप नः शोशुचद् अघम्।

ऋग्वेद १.९७.६

त्वम् हि विश्वतः-मुख विश्वतः परि-भूः असि। अप नः शोशुचत् अघम्।

१ (विश्वतः-मुख ! हि त्वं विश्वतः परि-भूः असि) हे सब ओर प्रमुख अथ वा सब ओर मुख वाले ! क्योंकि तुम सब ओर से, सबको प्रभावित करनेवाले हो [इसलिए]

२ (नः अघं अप शोशुचत्) हमारे पाप को दूर करो।

वह परमेश्वर पापनाशक है। उसे सम्बोधित करते हुए इस मन्त्र का ऋषि आंगिरस कुत्स अग्रणी परमेश्वर से पापों का नाश करने हेतु प्रार्थना कर रहा है। 'कुत्स' का अर्थ है—वज्र की तरह दृढ़, उत्तम शक्ति-सम्पन्न, पापों को कुत्सित कह कर फेंकनेवाला। कुत्स इस पूरे सूक्त के आठ मन्त्रों में पापनाशक से पाप नष्ट

करने हेतु प्रार्थना करता है। उन आठ मन्त्रों में से यह छठा मन्त्र है। इस मन्त्र में पापनाशक परमेश्वर की दो विशेषताओं का उल्लेख है। पहली विशेषता 'विश्वतोमुख' सम्बोधन से प्रकट होती है। वह सर्वत्र प्रमुख है। सब ओर उसके मुख हैं। 'मुख' कई कार्यों को एक साथ सम्पन्न करनेवाले को कहते हैं। कानों से सुनने, जिह्वा से बोलने-आस्वादन करने, नाक से सूंघने, मस्तिष्क से सोचने, आँखों से देखने और सम्पूर्ण शरीर को संचालित करने का कार्य अकेला मुख करता है। परमेश्वर प्र-मुख है, विश्वतोमुख है। वह सबके अच्छे-बुरे कार्यों को देखता रहता है। सबको प्रेरणा देनेवाली वेदवाणी हमें परमेश्वर से मिली है। वह दयालु है। साधकों की—अपने पुत्रों, पुत्रियों की प्रार्थना को सुनता है। उनका हितचिन्तन करता है। सृष्टि का संचालन करता है। पाप से विरत करने की क्षमता उसी परमात्मा में है।

वह सब ओर से हमको, इस पूरी सृष्टि को प्रभावित करता है, व्याप्त किए हुए हैं। हर कहीं उसकी दृष्टि है। हम अप-कर्म करके उससे छिपा नहीं सकते। कोई भी व्यक्ति पाप करता ही तब है जब यह मान लेता है कि कोई उसे देख नहीं रहा है। यदि उसे यह पता हो कि परमेश्वर उसको सब ओर से देख रहा है तो वह स्वतः ही पाप से विरत हो जाएगा। उसको साक्षी मानकर कार्य करें तो त्रुटि होगी ही नहीं। उसी का काम है, उसी के लिए कर रहे हैं और उसी की साक्षी में कर रहे हैं। कोई त्रुटि होगी भी तो वह स्वतः दूर करा देगा।

आओ,हम कुत्स के शब्दों में उस परमात्मा की प्रार्थना करें—हे पापनाशक! अग्रणी—अग्नि-रूप परमात्मन् ! आप सबका कल्याण करने वाले, सबके प्रमुख हैं। सबको, सब ओर से व्याप्त किए हुए हैं। आप हमारे पापों को नष्ट कीजिए।

हे अग्रणी ! हमारे परमात्मरूप प्यारे !
सबके प्रमुख ! तुम्हीं हो सब ओर नेत्र धारे।

सबमें तुम्हीं बसे हो, सबमें तुम्हीं रमें हो;
मोहक छटा तुम्हारी, हम देख-देख हारे।

तुम देखते हो हमको, सुनते हो सब हमारी;
'प्रभु' हो तुम्हीं हमारे, 'परिभू' सभी से न्यारे।

जो कुछ करें तुम्हारा, जो कुछ धरें तुम्हारा;
तुमको तुम्हारा अर्पित, हम कर रहे हैं सारे।

हे पाप के विनाशक ! सब पाप नष्ट कर दो;
आए शरण तुम्हारी, तुम ही हो बस सहारे।

रत्न-दाता

प्राता रत्नं प्रातर् इत्वा दधाति, तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या न धत्ते ।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू, रायस् पोषेण सचते सुवीरः । ऋ. १.२५.१

प्रातः रत्नम् प्रातः इत्वा दधाति तम् चिकि-वान् प्रति-गृह्य नि धत्ते ।
तेन प्र-जाम् वर्धयमानः आयुः रायः पोषेण सचते सु-वीरः ।

१ (प्रातः प्रातः इत्वा रत्नं दधाति) [वह] प्रातःकाल आकर रमणीय धन रख देता है ।

२ (तं चिकित्वान् प्रति-गृह्य नि धत्ते) उसको ज्ञाता पहचानकर, लेकर, पूरी तरह धारण करता है ।

३ (तेन सु-वीरः आयुः प्र-जाम् वर्धयमानः रायः पोषेण सचते) उससे सु-वीर आयु और प्रजा को बढ़ाता हुआ धन और पुष्टि से संयुक्त होता है ।

इस मन्त्र में दान-स्तुति है । एक दाता है जो प्रातःकाल आकर नित्य-प्रति रत्नों की—रमणीय वस्तुओं की—पांत सजा देता है । कौन है वह दाता ? उसका एक नाम थोड़े ही है । रूप भी एक नहीं है । अनेक, अनेक रूप बनाकर आता है वह । अनेक-अनेक नाम धारण करके आता है । वह रत्न देता है, इसलिए रत्नधा और रत्नदा तो है ही । रमणीय वस्तुओं का धारक और दाता होने के कारण उसे 'रमणीय' कहकर सम्बोधित किया जा सकता है । उसका दान रमणीय के साथ हितकर भी होता है—'हितकर रमणीय,' अर्थात्, हि-रण्य । हिरण्य-धारक होने से उसे 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है । वह रमणीय (राम), सर्वाङ्ग सुन्दर (श्याम) रोजाना रमणीय पदार्थ देता है ।

कोई उसे बुलाता नहीं, तब भी वह आता है । सवेरे-सवेरे आना उसका स्वभाव है । रमणीय पदार्थ प्रदान करना भी उसका स्वभाव है । उसका दान जरूरतमन्द को मिलता है, इसलिए जरूरतमन्द ही पहचानता है उसे । पात्र को दिया हुआ दान ही सार्थक होता है—इस बात को वह दाता बहुत अच्छी तरह से जानता है । जरूरतमन्द को—उचित पात्र को—वह जो कुछ देता है उसे वह याचक बड़ी कृतज्ञतापूर्वक लेकर रख लेता है । वह उसका प्रयोग—उपभोग करता है और उससे लाभ उठाता है ।

दाता और याचक में जिस रमणीय पदार्थ का दान और ग्रहण होता है उससे याचक प्रजा और पशुओं को बढ़ाता है, अपनी आयु को बढ़ाता है । यह उपलब्धि साधारण तो नहीं है । इसलिए मन्त्र में याचक या साधक को सुवीर कहा गया है । वह मांगता उसी से है जो उसे दे सकता है, और दाता भी देता उसी को है जो सुवीर है—पाने योग्य है । रत्न पाने के लिए सुवीर बनना होगा ।

रत्न या रमणीय धन दो प्रकार का होता है । 'रायस्पोषेण' शब्दों से

उसके दोनों रूपों को प्रकट किया गया है। पोषक धन साधक को पुष्ट करता है—उसके व्यक्तित्व का विकास करता है। जब तक परमात्मा से पोषक धन न मिले तब तक उसका शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास सम्भव नहीं है। धन का दूसरा रूप रयि (राय:) है। इसे जमा-पूंजी कहा जा सकता है। इसे परमात्मा त्याग के लिए देता है। इस पर समाज का स्वत्व होता है। महात्मा गांधी के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति इस पूंजी का रक्षक (ट्रस्टी) होता है। वह दाता साधक को—याचक को इतना ही देता है कि अपना विकास कर सके और समाज, राष्ट्र और विश्व के प्राणियों की आवश्यकता की पूर्ति अपनी क्षमता के अनुसार करता रहे।

सु-विचार भी रमणीय धन ही है। सद्गुण भी धन है। इनको अर्जित करके व्यक्ति धनी ही नहीं, धन्य भी हो जाता है। उसका कर्तव्य है कि वह इस रत्न-दाता को पहचाने, उसके दिए हुए रत्नों को पहचाने और रत्नों का यथोचित उपयोग, उपभोग करना सीखे। इसी का नाम जीवन-साधना है।

□

रक्षा करें त्रिदेव

यं रक्षन्ति प्रचेतसो, वरुणो मित्रो अर्यमा। नू चिद् दभ्यते जनः।
यं बाहुतेव पिप्रति, पान्ति मर्त्यं रिषः। अरिष्टः सर्व एधते।
वि दुर्गा वि द्विषः पुरो, घ्नन्ति राजान एषाम्। नयन्ति दुरिता तिरः।

ऋग्वेद १.४१.१-३

१ (प्र-चेतसः वरुणः मित्रः अर्यमा) प्रवृद्ध चेतना वाले वरुण, मित्र [और] अर्यमा (यं रक्षन्ति) जिसकी रक्षा करते हैं (सः जनः नू चित् दभ्यते) उस जन को कौन दबा सकता है ?

२ (यं बाहुता-इव पिप्रति) [ये देव] जिसको अपनी भुजाओं से जैसा हो वैसा, पालन या पूरा करते हैं (मर्त्यं रिषः पान्ति) [और] जिसको हिंसक शत्रु से बचाते हैं, वह (सर्वः अ-रिष्टः एधते) शत्रुओं से अ-हिंसित होकर सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है।

३ (राजानः) ये प्रकाशमान् देव (एषां पुरः दुः-गा वि घ्नन्ति) इन शत्रुओं के नगरों और दुर्गम्य किलों को नष्ट करते हैं। (द्विषः वि) द्वेष करने वालों का भी नाश करते हैं (दुरिता तिरः नयन्ति) और अपने [कृपापात्रों] को पापों से परे पहुंचाते हैं।

इन मन्त्रों के परमात्मा की तीन शक्तियों की स्तुति की गई है। वे शक्तियाँ हैं—वरुण, मित्र और अर्यमा। इन तीनों को राजा (राजानः=प्रकाशमान्) कहा गया है। राजा की आवश्यकता मनुष्य को क्यों होती है? इसलिए कि वह आन्तरिक और बाहरी शत्रुओं से रक्षा करता है। जब शत्रु नगर और दुर्गों में रहने लगें और पूरी तैयारी के साथ आक्रमण करने को तत्पर हो जाएँ तब सामान्य नागरिक या साधक रक्षा के लिए जिम्मेदार राजा को पुकारता है।

देश में रहने वाले शत्रु अन्तर्विरोध करते हैं, गृहयुद्ध जैसी स्थिति पैदा कर देते हैं। लूटपाट करके सामान्य नागरिकों को उत्पीड़ित करते हैं। विदेशी आक्रमण-कारी राज्य में घुसपैठिये भेज कर अशान्ति और अराजकता पैदा करते हैं और तत्पश्चात् आक्रमण करके जनता पर मनमाने अत्याचार करते हैं। इसी तरह व्यक्ति के मनोराज्य पर भी आसुरी वृत्तियाँ समय-समय पर आक्रमण करती रहती हैं। इन तीनों ही स्तरों पर शत्रुओं का प्रतिरोध करने हेतु राजा को पुकारना आवश्यक हो गया है। वह सर्वसमर्थ राजा तो परमेश्वर ही है। उसके तीन रूप तीन देवों के रूप में अनुभव-गम्य हैं। तीनों प्रवृद्ध चेतना के भिन्न-भिन्न रूप (प्र-चेतस्) हैं। वरुण हैं वरणीय देव, सभी सुगुणों और सुव्रतों के रक्षक। मित्र मृत्यु से बचाने वाले और अर्यमा अर्यों के, श्रेष्ठ पुरुषों के प्रेरक और रक्षक। जब ये त्रिदेव रक्षा करते हैं तो रक्षित को कौन पीड़ित कर सकता है?

ये रक्षा करते हैं? वैसे, जैसे विशाल और दृढ़ भुजाओं वाला सशक्त शासक प्रजा की रक्षा करता है। इनकी विशेषता यह है कि शत्रुओं से अपनी रक्षा करने का सामर्थ्य ये अपने प्रत्येक भक्त में जगा देते हैं जिससे कोई शत्रु से पीड़ित होता ही नहीं। शासक हर प्रान्त में, हर बस्ती में, हर गली में रक्षा करने थोड़े ही आएगा। उसका प्रभाव ही काम करता है। सबकी सम्मिलित शक्ति ही सबकी रक्षा करती है। इस शक्ति का दाता परमात्मा होता है।

ये तीनों राजा शत्रुओं और उनके गढ़ों को नष्ट कर देते हैं। मनों में व्याप्त द्वेष और दुर्भावना को समाप्त कर देते हैं। सब तरह के पापों का विनाश कर देते हैं। मन निष्पाप हो गया, पापों की पहुंच से परे हो गया तो फिर साधक को भय ही किसका रहा? वह पूरी तरह से अभय हो जाता है। यह साधना की सर्वोत्तम स्थिति है जिसे प्रचेताओं के उत्कृष्ट रूपों का विकास करके, उनसे रक्षित होकर प्राप्त किया जा सकता है। यह घोर कण्व (मेधावी) का दर्शन है। उसका यह आश्चर्यजनक (और भयकारी भी) निष्कर्ष है कि वास्तविक रक्षा ज्ञान-विज्ञान से प्रवृद्ध आत्मचेतना करती है, बाहरी शक्तियाँ नहीं। इसलिए आत्मा में निहित परमात्मा की उन शक्तियों को ही विकसित किया जाना चाहिए, उन्हीं की आराधना की जानी चाहिए। □

दिव्य मार्ग

ये पन्थानो बहवों देवयाना, अन्तरा द्यावापृथिवी सञ्चरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन, यथा क्रीत्वा धनमाहराणि । अथर्ववेद ३.१५.२

ये पन्थान: बहव: देव-याना: अन्तरा द्यावा-पृथिवी सम्+चरन्ति ।
ते मा जुषन्ताम् पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनम् आहराणि ।

१ (ये बहव: देव-याना: पन्थान: द्यावा-पृथिवी अन्तरा सम्-चरन्ति) जो बहुत देव-मार्ग द्यौ और पृथिवी लोकों के बीच में विद्यमान है,

२ (ते पयसा, घृतेन मा जुषन्ताम्) वे पय और घृत से मुझे प्राप्य हों,

३ (यथा क्रीत्वा धनम् आहराणि) जिससे खरीद-फरोख्त करके धन को प्राप्त करूँ ।

दिव्य भावनाओं वाले श्रेष्ठ पुरुष जिन मार्गों पर चलें वे देव-यान कहलाते हैं। हम सभी मनुष्यों को देव-यान पर ही यात्रा करनी चाहिए। इस मन्त्र में 'देव-यान' शब्द द्वारा उन मार्गो की ओर भी संकेत है जिनको श्रेष्ठ व्यापारी अपने वाणिज्य-कर्म के लिए प्रयोग में लाते हैं। समृद्ध राष्ट्र में ऐसे मार्गों की संख्या बहुत होती है। वे जल, थल या अन्तरिक्ष में फैले होते हैं। ऐसे मार्गों की जानकारी प्राप्त की जानी चाहिए। राजा या सेनापति इन मार्गों को चोर-डाकुओं और हिंसक पशुओं के भय से मुक्त रखते हैं। इन पर चलना सभी के लिए निरापद होता है।

प्राचीन इतिहास में अनेक ऐसे शासकों का वर्णन है जिन्होंने राजमार्गों के आसपास छायादार पेड़ लगाए थे, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ बनवाई थीं। उनमें खाने-पीने की पूरी व्यवस्था होती थी। इस मन्त्र में घी-दूधवाले मार्गों की ओर संकेत है अर्थात् ऐसे मार्ग जहां पीने के लिए शीतल जल और भूख मिटाने के लिए तृप्तिकर और पुष्टिकर सात्त्विक भोजन की व्यवस्था हो। उन मार्गों पर कौन नहीं चलना चाहेगा ?

व्यापार का उद्देश्य धन अर्जित करना होता है। धन भी कैसा ? जो ईमानदारी के साथ व्यापार करने से मिले। मन्त्र में कामना की गई है कि हे इन्द्र! मैं वाणिज्य-कर्म अपनाकर धन अर्जित करना चाहता हूं। इसके लिए मुझे सब प्रकार की सुविधाओं से सम्पन्न भय रहित मार्ग मिले। वे मार्ग दिव्य पुरुषों के आवागमन के अनुकूल हों—देव-यान हों। ऐसे मार्ग कम न हों, बहुत हों, ताकि मुझे जो सीधा, सुगम लगे, उस पर यात्रा कर सकूँ।

हम धरती पर स्वर्ग को भले ही न उतार पाएँ; पर अपनी गली को तो झाड़-पोंछकर इतनी सुन्दर, सुखद बना सकते हैं कि उसमें चलने वाला स्वर्गसुख को अनुभव कर सके। इन्द्र आत्म-धन का दाता भी है। दिव्य-पुरुषों द्वारा बताए और बनाए हुए मार्गों पर चलने से आत्म-धन प्राप्त होता है—आत्म-साक्षात्कार होता है। श्रेष्ठ मार्ग अपनाने से श्रेष्ठ कार्य सम्पन्न होते हैं।

अजातशत्रु

यदचरस्तन्वा वावृधानो,बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु ।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुः, नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ।

ऋग्वेद १०.५४.२

यत् अचरः तन्वा वावृधानः बलानि इन्द्र प्र-ब्रुवाणः जनेषु ।
माया इत् सा ते आनि युद्धानि आहुः न अद्य शत्रुम् ननु पुरा विवित्से ।

१ (इन्द्र) हे इन्द्र ! (तन्वा) अपनी विस्तार शक्ति से (बलानि वावृधानः) अपने बलों को बढ़ाता हुआ, (प्र-ब्रुवाणः) प्र-वचन करता हुआ [तू] (जनेषु अचरः) जनों में विचरण करता है ।

२ (यानि युद्धानि आहुः) जिन युद्धों को [करता है, ऐसा तेरे विषय में लोग] कहते हैं

३ (ते सा माया एव) वे [सब] वह माया ही [है]

४ (ननु न अद्य शत्रुः) क्यों कि न [तेरा] आज शत्रु है, (न पुरा विवित्से) न पहले [किसी को] ज्ञात था ।

ऋग्वेद में इन्द्र की स्तुति २५० सूक्तों में की गई है—लगभग चौथाई भाग में। इस मन्त्र में भी इन्द्र की स्तुति है । साथ ही इसमें वह कुञ्जी भी है जिससे इन्द्र-विषयक मन्त्रों को आसानी से समझा जा सकता है ।

मन्त्र में इन्द्र को माया के साथ सम्बद्ध किया गया है । माया निर्मात्री शक्ति का नाम है । इन्द्र क्रतु अर्थात् सृष्टि-कर्म का प्रवर्तक है इसलिए उसका निर्मात्री शक्ति से सम्बन्ध होना ही चाहिए । वह सृष्टि का वितान करता है । ऐसा वह अपनी विस्तारशक्ति से करता है । सृष्टिवितान में अवरोधक शक्तियां बाधा डालती हैं । इन्द्र उनको पराजित करता है । कई सूक्तों में इन्द्र को युद्धजयी योद्धा के रूप में प्रस्तुत किया गया है । वह अकेला कितने ही शत्रुओं को परास्त कर देता है । वैसे सृष्टि कर्म में प्रवृत्त दिव्य शक्तियों का वह नेतृत्व करता है । इसी लिए उसे देवराज कहा जाता है ।

यहां यह संकेत स्पष्ट रूप से मिलता है कि वेद में इन्द्र के जिन युद्धों का वर्णन किया गया है वे युद्ध हैं ही नहीं । युद्ध किसी शत्रु से होता है । इन्द्र का कोई शत्रु नहीं है । आज भी उसका शत्रु नहीं है और भूतकाल में भी नहीं रहा है । जो क्रतु का केन्द्र है, क्रतु से देवों को अलंकृत करने वाला है उसका कोई शत्रु कैसे होगा ? तब युद्ध किससे हुए ? किसी से नहीं हुए । जो युद्ध का वर्णन मिलता है वह रूपक है, प्रतीकात्मक वर्णन है । इन्द्र की माया के प्रभाव से ऐसा लगता है जैसे सचमुच युद्ध हो रहा है ।

इन्द्र के युद्धों के विषय में इतिहासविदों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। इन्द्र को आर्य योद्धा मानकर यह मत प्रचारित किया गया है कि आर्यों ने कहीं बाहर से भारत में आकर यहाँ के मूल निवासियों को पराजित किया। इस मत की पुष्टि इन्द्र विषयक वैदिक सामग्री से नहीं होती क्योंकि युद्ध-वर्णन इन्द्र के सृष्टिकर्म का प्रतीकात्मक वर्णन मात्र है। जब इन्द्र अपनी विस्तारशक्ति से—ऋतु से अपने बल को बढ़ाता है तो सृष्टि का विकास होने लगता है।

मन्त्र में यह भी कहा गया है कि सृष्टि-कर्म में प्रवृत्त इन्द्र प्र-वचन करता हुआ जनों में अर्थात् उत्पन्न सब प्राणियों और पदार्थों में व्याप्त हो जाता है। इन्द्र वाक् का उपयोग करता है। वाक् इन्द्र की सृष्टि निर्माण करने वाली शक्ति—माया का ही दूसरा नाम है। वाक् द्वारा इन्द्र अव्यक्त को व्यक्त कर देता है। इन्द्र की अपरिमित शक्ति से ही सृष्टि का विकास होता है। यह उसकी माया का वितान है।

□

श्रद्धा

श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि, वचसा वेदयामसि। ऋग्वेद १.१५१.१

श्रद्धया अग्निः सम्-इध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धाम् भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।

१ (श्रद्धया अग्निः सम्-इध्यते) श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित की जाती है।

२ (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धा से [यज्ञ में] हवि समर्पित की जाती है।

३ (भगस्य मूर्धनि श्रद्धां वचसा वेदयामसि) ऐश्वर्य के मस्तक पर श्रद्धा को [प्रतिष्ठित कर] वाणी से कहती हूं।

श्रद्धा के वचन सुनो। इनका लक्ष्य भी श्रद्धा है। क्या है श्रद्धा? श्रत् को धारो—श्रत्+धा=श्रद्धा। श्रत् क्या? सत् ही है। 'एकं सत्' सब कर्तव्य कर्मों का लक्ष्य होता है। उस लक्ष्य—सत् को धारण करने से श्रद्धा का जन्म होता है। सत् या 'एकं सत्'—लक्ष्य; और उसका मार्ग—श्रद्धा। लक्ष्य का जो रूप पकड़ में आ जाता है, लक्षित हो जाता है—वह है सत्य। ऐतरेयब्राह्मण में श्रद्धा और सत्य को उत्तम मिथुन (जोड़ा) कहा गया है—यजमान और यजमान-पत्नी की तरह। सत्य आचरण में ढलता है तो विश्वास बन जाता है। श्रद्धा और विश्वास के जोड़े को भी अनेक बार स्मरण किया जाता है।

मन में कोई भी इच्छा जागे, उसकी शुचिता का विधान श्रद्धा करती है। वह हर कर्तव्य कर्म की नियामक होती है। कामना को कर्म में बदलने का काम श्रद्धा करती है। कर्म में ही क्यों, उसे अन्तिम लक्ष्य—'एकं सत्' से जोड़ देती है। इससे साधारण काम भी 'सर्वश्रेष्ठ कर्म'—यज्ञ बन जाता है।

हवन नित्य कर्म है। कितना संक्षिप्त; पर कितना सार्थक। एक नाटक; पर बड़ा पवित्र नाटक। नाटक किस का? वही श्रद्धा और सत् या सत्य का, मंजिल और राह का, लक्ष्य और विधान का। लक्ष्य के अनेक नाम हो सकते हैं। इस मन्त्र की देवता श्रद्धा है। वह भी मार्ग से लक्ष्य वन गई है।

यज्ञवेदि पर अग्नि प्रज्वलित की गई है। इस क्रिया के माध्यम से सत् या सत्य को पकड़ना है। कैसे पकड़ पाएँगे? श्रद्धा से। श्रत् (सत्) को धारण करके अग्नि प्रज्वलित की जाएगी तो लक्ष्य की ओर उन्मुख होने का अद्भुत उत्साह मन में भरा होगा। हवन की एक-एक क्रिया दिव्य भावना से अनुप्राणित करने लगेगी। अग्नि में जो हवि समर्पित की जाएगी वह सम्पूर्ण भाव से आत्म-निवेदन करने की सार्थक क्रिया बन जाएगी। इदं न मम—का उच्चार जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि बन जाएगा। सम्पूर्ण जीवन दक्षिणा बन जाएगा—आत्मदक्षिण होना तो यज्ञ का लक्ष्य है। इष्टदेव परमपिता परमेश्वर के प्रति समर्पित होकर जीना ही तो जीना है। श्रद्धा से ही ऐसा हो सकता है।

यज्ञ से भौतिक उपलब्धियां भी कम नहीं होतीं। खेती करोगे तो अन्न उपजेगा ही। व्यापार करोगे तो अर्थलाभ होगा ही। अन्न और धन का उपयोग करके अन्न और धन अधिकाधिक बढ़ाया जा सकता है। पर, श्रद्धा तो वहां भी आवश्यक है। श्रद्धा के बिना आत्मविश्वास कहां से आएगा? काम करने की उमंग कैसे जागेगी? अत: भौतिक उपकरण और भौतिक उपलब्धियां श्रद्धा से बड़े नहीं हैं। श्रद्धा ही शीर्षस्थ है। ऐश्वर्य उसका अनुगामी है। वाणी की सार्थकता श्रद्धा को सर्वोपरि कहने में ही है।

श्रद्धा से हो अग्नि समिद्ध,
श्रद्धा से हवि का अर्पण।
श्रद्धा भग के शीश विराजित,
वाणी सार्थक श्रद्धा - मित।

आदर्श कृषि कर !

सीरा युञ्जन्ति कवयो, युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ।

ऋग्वेद १०.१०१.४; यजुर्वेद १२.६७; अथर्ववेद ३.१७

सीरा युञ्जन्ति कवयः युगा वि तन्वते पृथक् । धीराः देवेषु सुम्न-या ।

१ [जैसे कुशल किसान] (सीरा युञ्जन्ति) हल जोतते हैं [वैसे]

२ (कवयः पृथक् युगा वि तन्वते) क्रान्तदर्शी-विद्वान् पृथक् से युगों का विस्तार करते हैं ।

३ (धीराः देवेषु सुम्न-या) बुद्धि प्रयोक्ता—समझदार देवों/दिव्यताओं में सुखपूर्वक [रहते हैं] ।

वेद का आदेश है—कृषिम् इत् कृषस्व, अर्थात्, कृषि कर्म ही करो । उसी कृषि-कर्म का 'सौम्य बुध'-ऋषि-दृष्ट इस मन्त्र में व्याख्यान है । सोम आनन्द या श्री का नाम है । आत्मानन्द के साथ स्वयं को समर्पित भाव से जोड़ने वाला सोम-पुत्र बुध है । बुध का अर्थ है—समझदार या प्रबुद्ध । अबोध अवस्था को प्राप्त साधक देखता है कि कुशल कृषक किस तरह कठोर परिश्रम करके, बार-बार हल चलाकर खेत को तैयार करता है, उसमें उपयुक्त समय पर बीज बोता है, पौधों के आस-पास के झाड़-झंखाड़ को साफ करता है, समय पर सिंचाई करता है, खड़ी फसल को जंगली जानवरों और चोरों से बचाता है, फ़सल पक जाने पर काटकर अन्न को भूसे से अलग करके उपयोग के लिए समाज को देता है । कृषक का सारा जीवन श्रम की, अनवरत अभ्यास की, अथक उत्साह की, आशा और विश्वास की मर्म-कथा है । उस कथा को समझ-बूझकर साधक न जाने कितने, रहस्यों की गांठें खोल देता है ।

सद्गुणों और सद्विचारों की खेती करने वाला साधक भी अच्छे कृषक का अनुकरण करे । निरन्तर अभ्यास करते हुए अपने मन को शुद्ध, संयत और पवित्र बनाए रक्खे जिससे उसमें अच्छे गुणों और विचारों के बीज बोए जा सकें । आशा, आस्था और विश्वास उन बीजों को संरक्षा और सुरक्षा प्रदान करेंगे । वे पल्लवित, पुष्पित और फलित होंगे तो सारा संसार जानेगा । किसी को उनकी शीतल छाया मिलेगी, किसी को गन्ध और किसी को सु-स्वादु फल । एक साधक अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करता है तो, न जाने कितनों का, न जाने कितनी तरह से, उपकार करता है और साधक को यह सब करते हुए क्या मिलता है ? उसे मिलता है— किसान की तरह का सन्तोष, सुख, आनन्द । साथ में गर्व भी । उत्पादन का सुख, निर्माण का सुख कम नहीं होता ।

मन्त्र में वेद का आदेश है—'विद्वानो ! हल चलाओ; जुए में बैल जोतकर कृषि कर्म का विस्तार करो। बुद्धि का प्रयोग करके दिव्य मनोभावना का निर्माण करो।'

स्वामी दयानन्द मन्त्र का अर्थ करते हैं—'क्रान्तदर्शियो ! अपने नाड़ीजाल को परमात्म-सत्ता के साथ जोड़ो, पृथक् रूप से योग-युक्त कर्मों का विस्तार करो और सुख व आनन्द का अनुभव करते हुए दिव्यानन्द को प्राप्त करो।'

किसान के आनन्द और साधक के आनन्द में पर्याप्त समानता होती है। किसान शारीरिक श्रम करता है। साधक मानसिक श्रम करता है। एक की खेती सूक्ष्म है, दूसरे की स्थूल, बाह्य। साधक शारीरिक श्रम करते हुए साधना करे, कृषक शारीरिक श्रम करता हुआ, मन में सूक्ष्म संस्कारों को जगाता हुआ साधना करे, तो आदर्श कृषि का स्वरूप सामने आए। मन और शरीर के स्तर पर अलग, अलग बंटकर श्रम किया जाए तो वह योग कहाँ हुआ ? योग तब कहलाएगा जब शरीर और अन्तःकरण के व्यापार में समन्वय हो, जो काम करे उसके साथ पूर्ण मनोयोग हो। यह खेती का आदर्श रूप है। इसको अपनानेवाला किसान खेतों में लहलहानेवाली शस्यराशि की तरह अच्छे गुणों और विचारों की फ़सल को भी लहलहाते हुए देखता है।

कविगण ! हल जोतो
विस्तारो युग कर्म।
धीर दिव्य हो सुख से [जीते]

□

शक्ति दो, जीवन जिएं हम

१ चित्रो वोऽस्तु यामश, चित्र ऊती सुदानवः। मरुतो अहिभानवः।
(सु-दानवः) अच्छे दानी [और] (अहि-भानवः) अहिंसित तेज से युक्त (मरुतः) मरुतो ! (वः यामः चित्रः) तुम्हारी गति अचरज-भरी [है], (ऊती चित्रः अस्तु) संरक्षण सामर्थ्य [भी] अचरज भरा हो।

२ आरे सा वः सुदानवो, मरुत ऋञ्जती शरुः। आरे अश्मा यमस्यथ।
(सु-दानवः मरुतः) हे अच्छे दानी मरुतो ! (सा वः) वह तुम्हारा (ऋञ्जती) वेग से प्रहार करता हुआ (शरुः) शस्त्र (आरे) [हमसे] दूर रहे। [यं अस्यथः] जिसे फेंकते हो [वह] (अश्मा आरे) वज्र [भी हमसे] दूर रहे।

३ तृणस्कन्दस्य नु विशः, परि वृङ्क्त सुदानवः। ऊर्ध्वान् नः कर्त जीवसे।
(सु-दानवः) सु-दानी [मरुतो !] (तृण-स्कन्दस्य) तिनके की तरह नष्ट-प्राय (विशः) प्रजा का [नाश] (नु) शीघ्र ही (परि वृङ्क्त) दूर हटा दो। (नः जीवसे) हमारे दीर्घ जीवन के लिए (ऊर्ध्वान् तर्क) उत्कृष्ट करो।

इन तीन मन्त्रों में मित्र और वरुण के पुत्र अगस्त्य मरुतों की स्तुति करते हैं। तीनों गायत्री छन्द हैं। जिसका गान करने से मुक्ति मिलती है वह छन्द गायत्री होता है। भक्ति-भाव से भरे हुए इन मन्त्रों में भक्त की करुण पुकार है। किस उद्देश्य से ? जीवसे—जीवन धारण करने हेतु। तीनों मन्त्रों में मरुतों का विशेषण प्रयुक्त हुआ है—सुदानवः, अर्थात्, अच्छे दानी। मरुत क्या देते हैं ? जीवन। जीवन जल का नाम भी है। परमेश्वर की जो शक्तियां आकाश से जलवृष्टि करती हैं उनको मरुत कहा जाता है। शरीर में मरुत, मन की शक्तियों का नाम है। ये शक्तियां जीवन-जल प्रदान करती हैं और उसकी सुरक्षा भी करती हैं।

मरुतों का दूसरा विशेषण अहि-भानवः—अहिंसित तेज युक्त—है। लेसर किरण का नाम सबने सुना होगा। वह सुदूर निर्बाध चली जाती है। मरुत ऐसी रश्मियों के अधिष्ठातृ-देव हैं। उनका तेज सदैव अक्षुण्ण रहता है। इनकी गति को विचित्र कहा गया है। फिर इनकी गति निरर्थक नहीं होती। इनकी गति से प्राणियों की रक्षा होती है। मरुतों के गतिमान् रहने से जीवन में बाधाएँ नहीं आतीं। आएँ भी तो वे उनको हटाने में समर्थ हैं। वे वज्र से वेगपूर्वक प्रहार करके सारी बाधक शक्तियों का निराकरण कर देते हैं। साधक या भक्त की करुण पुकार है—'प्रभो ! सब बाधाओं और शत्रुओं पर प्रहार करने के लिए आपके वज्र को उद्यत रखना; पर यह भी कृपा करना कि कहीं असावधानी से उस वज्र से हमें चोट न लग जाए। वज्र को हमसे तो दूर ही रक्खो। हमारा अस्तित्व आपके बिना तिनके जैसा नगण्य है। रोग, जरा, मृत्यु जैसे शत्रु हर समय हमें ग्रसने के लिए तैयार रहते हैं। आप वर्षा के जल से तिनकों को जीवनदान दिया करते हो, वैसे ही इन शत्रुओं से दबे, नष्टप्राय, हमारे जीवन को भयमुक्त करो। हमारे भीतर इतना सामर्थ्य भरो कि हम दीर्घजीवी हो जाएँ।

जीवन की लालसा सबसे बड़ी लालसा है। परमपिता उसकी पूर्ति के लिए अपनी उन शक्तियों को प्रेरित करें जो इस जगत् को अस्तित्व में लाने और इसकी सुरक्षा के लिए जिम्मेदार हैं। जीवन जिसकी देन है वही उसकी रक्षा भी करेगा। जीने की शक्ति प्रदान करना उसी का काम है।

□

तारक धन

अग्निर् धिया स चेतति, केतुर् यज्ञस्य पूर्व्यः । अर्थं ह्यस्य तरणि ।

ऋग्वेद ३.११.३

अग्निः धिया सः चेतति केतुः यज्ञस्य पूर्व्यः । अर्थम् हि अस्य तरणि ।

१ (यज्ञस्य केतुः, पूर्व्यः सः अग्निः धिया चेतति) यज्ञ-प्रज्ञापक, पुरातन, वह अग्रणी धी से जाना जाता है;

२ (हि अस्य अर्थं तरणि) निश्चयपूर्वक इसका धन तारक है।

जीवन को चलाने के लिए आवश्यक उपकरणों का नाम धन है। धन तारक भी हो सकता है, मारक भी। अग्रणी परमात्मा जिस धन को देता है वह तारक ही होगा, मारक नहीं। लाख रुपए की लाटरी खुली और मर गए। यह मारक धन हुआ।

धन की अभ्यर्थना की जाती है, उसे चाहा जाता है, इसीलिए उसका नाम अर्थ है। परमात्मा से सदैव तारक अर्थ की ही मांग की जाए। उसके पास इसका खजाना है। उसने जीवन जी भरकर जीने के लिए दिया है, कष्ट भोगते हुए हाय-हाय करते रहने के लिए नहीं।

मनुष्य 'चाहों का पुतला' है। हर समय उसके मन में कोई न कोई चाह पैदा होती रहती है। मनुष्य ही क्यो, हर प्राणी चाहों का पुतला होता है। इन चाहों में से कुछ पूरी होती रहती हैं, कुछ अपूर्ण रह जाती हैं। सारी इच्छाएँ किसी की पूरी नहीं होतीं। इसलिए कहीं न कहीं इन पर रोक लगानी होती है। रोक बाहर से नहीं, भीतर से लगाई जा सकती है। बाहर से डरा कर, धमका कर रोक लगाई गई तो मन विद्रोह कर उठेगा। उसमें कई विकृतियां पैदा हो जाएंगी। रोक भीतर से ही लगे।

आंख देखने के लिए है। संसार के सौंदर्य को देखो, खूब देखो; पर जो देखो, अच्छा देखो। बुरा मत देखो। कान सुनने के लिए हैं। खूब सुनो; पर जो सुनो, भला सुनो। बुरा मत सुनो। नाक सूंघने के लिए है। खूब सूंघो; पर जो सूंघो वह सुगन्ध हो, दुर्गन्ध नहीं। जीभ स्वाद लेने के लिए है। खूब स्वाद लो; पर सुस्वाद लो। बुरी चीज मत खाओ। हाथ काम करने के लिए हैं। काम करो; पर भलाई के काम करो, बुराई के नहीं। वाणी मिली है। बोलो, खूब बोलो; पर मधुर बोलो। हितकर बोलो। ये सब इन्द्रियां चाहों की पूर्ति के लिए हैं। इनसे धन बटोरो। पर, वह धन तारक हो, मारक नहीं।

अग्रणी परमात्मा का धन तो तारक ही होता है। उसका चुनाव बुद्धि से करो, विवेक से करो। क्या भला है, क्या बुरा, यह निर्णय बुद्धि करती है। धन की चाह को नहीं रोका जा सकता। धन के आकर्षण को नहीं रोका जा सकता। पर, बुद्धि से चुनाव करके सुधन बटोरा जा सकता है।

उस परमात्मा को अग्रणी होने से अग्नि कहा जाता है। वह सब यज्ञों का—कर्तव्य कर्मों का प्रज्ञापक है, नियामक है, निर्धारक है। जो काम हम कर रहे हैं वह यज्ञ बने, श्रेष्ठ कर्म बने, इस बात की प्रेरणा उस परमेश्वर से मिलती है। वेद प्रत्येक कर्म को श्रेष्ठ कर्म बनाने की विद्या ही तो है।

यह अग्नि कैसा है? ऐसा है जिसे बुद्धि से चेताया जाता है, जो बुद्धि में प्रदीप्त होता है, जो बुद्धि को ज्ञान की प्राप्ति के लिए और ज्ञान का उपयोग करने के लिए प्रेरणा देता है। ऐसे इस अग्नि से तारक धन मांगो। यह बुद्धि को स्फुरित करेगा, प्रेरित करेगा।

यह अग्नि नया नहीं है, पुरातन है। अनादि है, अनन्त है। यह सम्पूर्ण चाहों की पूर्ति करने वाला है। इसे बुद्धि में प्रदीप्त करो। यह भण्डार भर देगा। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध प्रदान करने के लिए इसके पास कोई कमी नहीं है। जितना चाहे लो। जैसे चाहो, लो। जब चाहो, लो।

और, धन का भण्डार भर देने वाला, यह अग्नि, केवल भौतिक धन ही नहीं देता, सुविचारों का धन भी देता है, सद्‌गुणों का धन भी देता है। सुविचारक बनो, सद्‌गुणी बनो। उससे नश्वर पदार्थ क्या मांगते हो! अविनाशी धन मांगो। वह देता है और दे सकता है।

अग्नि बुद्धि से चेतता
यज्ञ-केतु परिपूर्ण।
[है] तारक [ही] उसका अर्थ। ▢

मेरा नाम हवि

अग्निर् अस्मि जन्मना जात-वेदा, घृतं मे चक्षुर् अमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रि-धातू रजसो बि-मानो, अजस्रो घर्मो हविर् अस्मि नाम।

ऋग्वेद ३.२६.७

अग्निः अस्मि जन्मना जात-वेदाः घृतम् चक्षुः अ+मृतम् मे आसन्।
अर्कः त्रि-धातुः रजसः वि-मानः अ+जस्रः धर्मः हविः अस्मि नाम।

१ (अजन्मा जात-वेदाः अग्निः अस्मि) मैं जन्म से [श्रेष्ठ], सब पैदा हुए पदार्थों का ज्ञाता अग्रणी [अग्नि] हूं।

२ (घृतं मे चक्षुः) मेरे चक्षु प्रकाश [रूप] हैं।

३ (अ+मृतं मे आसन्) मेरे मुख में अमृत [का निवास] है।

४ (अर्कः त्रि-धातुः) मेरा प्राण त्रिधा-धारक [है]।

५ (रजसः वि-मानः) [मैं] अन्तरिक्ष का मापक [हूं]।

६ (अ+जस्र· धर्मं) सतत ऊष्मा [युक्त]।

७ (हविः नाम अस्मि) [मैं] 'हवि' नामक हूं।

जब साधक विश्वप्रपञ्च का मित्र बनकर—विश्वामित्र के रूप में, आत्म-दर्शन में लीन होता है तब उसे जो अनुभूति होती है उसका इस मन्त्र में बखान किया गया है। साधक अनुभव करता है कि वह हवि नामधारी हूं। जिस वस्तु को समर्पित किया जाए या जिसकी आहुति दी जाए उसे हवि कहा जाता है। यह बड़ी गहरी और प्रेरक अनुभूति है कि मैं हवि हूं, मुझे किसी अग्नि में समर्पित होना है। जिस अग्नि में समर्पित होना है वह आत्मा-रूपी अग्नि है। सामने जलने वाली अग्नि तो स्थूल अग्नि है। इसमें आहुति देना एक नाटक है, प्रतीकात्मक क्रिया है।

अग्नि में हवि क्यों समर्पित की जाती है? इसलिए कि उसमें प्रच्छन्न रूप से अग्नि विद्यमान है, वह जल कर अग्निसात् हो सकती है। अग्निसात् होने की योग्यता होने से ही यज्ञवेदि पर अग्नि में हवि की आहुति दी जाती है। जब साधक यह अनुभव कर लेता है कि वह केवल हवि है तब वह यह भी समझ जाता है कि वह साक्षात् अग्नि ही है—जन्म से अग्नि। कैसा अग्नि? जातवेदा: अग्नि—अग्रणी। संसार में उत्पन्न सभी रूप अग्नि हैं। रूप अग्नि का धर्म है। साधक इस रहस्य को जान जाता है कि जगत् में उत्पन्न सब पदार्थ अग्नि हैं और मैं उनसे अभिन्न हूं। साधक की यह अनुभूति ही आत्मदर्शन है जिसे महर्षि याज्ञवल्क्य ने धर्म का लक्षण माना है।

अग्नि के धर्म हैं—प्रकाश, अमृत्व, धारकता, निर्माणक्षमता और ऊष्मा। साधक अनुभव करता है कि उसमें भी ये सब गुण-धर्म विद्यमान हैं। अपने अनुभव को व्यक्त करता हुआ वह कहता है—मैं अग्नि हूं। मेरी आंखों में प्रकाशपुञ्ज है। मेरे मुख में अमृत बसता है। अमृता वाणी मुख में ही रहती है। मुझको स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के रूप में धारण करने वाले प्राण भी मुझमें हैं। इस विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में जो कुछ निर्माण हो रहा है उसका निर्माता भी मैं हूं और मुझमें ऊष्मा सतत प्रवाहित होती रहती है।

ये सब अग्रणी—अग्नि या परमात्मा के सामान्य गुण हैं। अग्नि के तादात्म्य भाव स्थापित करने के बाद साधक उन विशेषताओं को अपने भीतर अनुभव करने लगता है और ब्रह्मरूप हो जाता है।

शरीर के स्तर पर तो साधक भी मर्त्य है, मरणधर्मा है; पर शरीर में विभिन्न रूपों में विद्यमान दिव्य शक्ति जो कार्य कर रही है उसकी साक्षात् अनुभूति होने पर वह अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को पहचान जाता है।

अग्नि हूं मैं जातवेदा जन्म से
चक्षु दीपित, आस्य में अमृत [वसा]।
त्रिधा-धारण प्राण, मापक गगन का,
सतत ऊष्मायुक्त, मेरा नाम हवि। □

कीर्ति-कामना

इदं कवेर् आदित्यस्य स्व-राजो, विश्वानि सान्त्यम्यस्तु मह्ना ।
अति यो मन्द्रो यजथाय देवः, सु-कीर्ति भिक्षे वरुणस्य भूरेः ।

ऋग्वेद २.२८.१

इदम् कवेः आदित्यस्य स्व-राजः विश्वानि सान्ति अभि-अस्तु मह्ना ।
अति यः मन्द्रः यजथाय देवः सु-कीर्तिम् भिक्षे वरुणस्य भूरेः ।

१ (कवेः स्वराजः आदित्यस्य इदम्) क्रान्तदर्शी, स्वयं प्रकाशित आदित्य का यह [जगत् है] ।

२ (मह्ना विश्वानि सांति अभि-अस्तु) [उसकी] महनीय शक्ति से सभी विनाशकारी दूर हों ।

३ (यः देवः यजथाय अति मन्द्रः) जो दिव्यगुणोपेत याजकों को सुख देने वाला है, उस

४ (भूरेः वरुणस्य सु-कीर्तिं भिक्षे) भरण-पोषणकर्ता वरुण की/से उत्तम कीर्ति मांगता हूं ।

वरणीय देव वरुण से इस मन्त्र में गृत्समद ऋषि सु-कीर्ति की याचना करता है। गृत्समद उस साधक का नाम है जो प्राणों में बल संचित करके आनन्द मनाता है। आनन्द इस बात को सोचकर आता है कि मैं जीवित हूं। आनन्द यह सोचकर भी आता है कि मैं समृद्ध हो गया हूं तथा यह सोचकर भी कि मेरा यश बढ़ रहा है। आनन्द इस भाव के साथ भी पैदा होता है कि मैं कठिन से कठिन काम कर सकता हूं, हर चुनौती का सामना कर सकता हूं और जिस कर्म को हाथ में लूंगा उसमें निश्चित रूप से सफल हो सकूंगा ।

प्राणों में आनन्द की लहरें उठें—ऐसी कामना करनेवाला साधक यहां जिस आनन्द की कामना कर रहा है वह उसे सु-कीर्ति से मिलने वाला है। इसलिए उसी के लिए वह वरणीय देव से याचना करता है। वरुण देव आनन्दप्रदायिनी सभी वस्तुओं को देनेवाला है। इसीलिए उसे भूरि—भरण करने वाला कहा गया है। लोक में एक भूरि या भूयसी दक्षिणा प्रसिद्ध है जो याचक का मन भर जाए इतनी दी जाती है। वरुण भी मन भर जाए उतना देने में समर्थ है। वह सु-कीर्ति भी इतनी देगा जिससे साधक का मन तृप्त हो जाए और आनन्दसागर में डूबने लगे ।

हां, उसका दान सबको नहीं मिलता। उन भाग्यशाली लोगों को मिलता है जो यज्ञ करते हुए अपने आपको उसके चरणों में अर्पित कर देते हैं। जो यज्ञ में आत्म-दक्षिण हो जाए उसे परमात्मा की असीम कृपा, असीम दक्षिणा मिलती है। उसका काम देना है; पर हम याजक लेने वाले बनें तब बात बने। चातक जैसा

याजक हो तब मेघ भी भरपूर मात्रा में जल बरसा कर नदी-तालाब सबको भर देता है।

यह सारी सृष्टि उसी परमात्मा की है जिसके प्यारे-प्यारे नाम हैं—कवि अर्थात् अंग-अंग के विषय में सब कुछ सोच लेने वाला और दूर की बात समझने वाला, क्रान्तदर्शी; स्व-राट् अर्थात् आत्मशक्ति से प्रकाशित होने वाला तथा आदित्य अर्थात् आनन्द की अखण्ड धारा को प्रवाहित करने वाला। अपनी बनाई हुई वस्तु सबको सुन्दर और रुचि-अनुकूल लगती है। यह संसार उस परमात्मा का बनाया हुआ है। इसलिए वह इसका पोषण भी करता है। सब प्राणियों की सब इच्छाओं की पूर्ति करता हुआ वह उनको पुष्टि-तुष्टि प्रदान करता है।

कविता सरस होती है। नीरसता या वि-रसता काव्य के आनन्द को समाप्त करती है। वैसे ही जीवन में अनेक संकट और अवरोध आ खड़े होते हैं। परमात्मा उनको हटा कर सुख-वृष्टि करता रहता है। उसकी ऐसी महती शक्ति से बाधाएँ दूर-दूर तक शेष नहीं रहतीं।

कवि की यह विशेषता होती है कि वह दूसरों की पीड़ा को, अत्यधिक संवेदनशील होने से, अपनी ही पीड़ा समझ लेता है। वह कवि परमात्मा भी संसार के प्राणियों से तटस्थ या उदासीन नहीं हो जाता। उनके कष्टों को निवारण करने को तत्पर रहता है। यश की अभिलाषा हर किसी को हो सकती है। कष्ट को दूर करके, उसे प्रचुर यशस्वी बनाकर वह आनन्द प्रदान करता है।

कवि, आदित्य स्वराट् देव का जगत् समूचा
उसकी महती शक्ति मिटाती सारे संकट।
दिव्य, यजन करने वाले को सुख देता है
सबके पोषक वरुणदेव से सुयश मांगता।

देव-प्रबोध

तुभ्यं दक्ष कविक्रतो यानीमा, देव मर्तासो अध्वरे अकर्म।
त्वं विश्वस्य सुरथस्य वोधि, सर्वं तद् अग्ने अमृत स्वदेह। ऋग्वेद ३.१५.७

तुभ्यं दक्ष कवि-क्रतो यानि इमा देव मर्तासः अध्वरे अकर्म।
त्वम् विश्वस्य सु-रथस्य बोधि सर्वम् तद् अग्ने अ+मृत स्वद इह।

१ (दक्ष, कविक्रतो, देव) हे समर्थ, क्रान्तकर्मा, प्रकाशमान् [अग्ने], (मर्तासः अध्वरे तुभ्यं यानि इमा अकर्म) [हम] मनुष्य यज्ञ में [तेरे लिए] जो इन [हवियों को] देते हैं;

२ (अमृत अग्ने) अमर अग्ने ! (इह तत् सर्व स्वद) इस वेदि पर उन सबको चख ।

३ (त्वं सु-रथस्थ, विश्वस्य बोधि) तू सु-रथारूढ़ का [और] सबका बोधन कर ।

जागरण का सन्देश देने वाला यह मन्त्र विश्वामित्र का दर्शन है । हमारे देश में दीपावली के उत्सव के बाद देवप्रबोधिनी एकादशी आती है । उसमें वर्षा-ऋतु में सोये हुए देवताओं को जगाया जाता है । देवता जागेंगे तो वे हमको जगाएँगे—यह उद्देश्य होता है उस उत्सव को मनाने का । सोई हुई जाति में देवता कभी नहीं जागते । वर्ष भर में एक दिन देवता जागें, ऐसा राष्ट्र भले ही पूरी तरह सोया हुआ न हो; पर उसे पूरी तरह जागा हुआ भी तो नहीं कहा जा सकता । मनुष्य नित्य प्रति नींद से जागता है, उसी तरह राष्ट्र को नित्य प्रति जागना चाहिए । योगी तो रात्रि में भी जागता रहता है । सोना और जागना साधारण मनुष्य का और साधारण राष्ट्र का क्रिया-व्यापार है । साधक सदैव जागता रहता है, उसी तरह जागरूक राष्ट्र कभी नहीं सोता ।

राष्ट्र सदैव जागरूक, प्रबुद्ध तब रह सकता है जब उसे प्रबुद्ध रक्खा जाए । इस मन्त्र में इसी दिशा में विचार किया गया है । साधारण जैविक-क्रिया के रूप में सोना और जागना जरूरी होता है । साधक योग-निद्रा में सदैव जागता रहता है । उसे दिव्य शक्तियां जागरूक रखती हैं; वे दिव्य शक्तियां जिनका नेतृत्व अग्रणी अग्नि करता है । प्रातःकाल यज्ञ-वेदि पर अग्नि के भौतिक रूप को जगाया जाता है और उसे हवि प्रदान की जाती है । हवि का आस्वादन करके वह अग्नि प्रदीप्त होता है, प्रबुद्ध होता है । प्रदीप्त होते हुए अग्नि को उद् बुध्यस्य अग्ने ! प्रति जागृहि—अग्ने ! उद्बुद्ध होओ, जागो—कहकर जगाया जाता है । याजक की भावना यह होती है कि जैसे प्यार और दुलार के साथ जगाने पर यह भौतिक अग्नि जाग रहा है वैसे ही मेरे भीतर पैठा हुआ अग्रणी आत्मा भी जाग रहा है । देवता को प्रबुद्ध करने पर उस देवता से यजमान के अन्तर में विद्यमान आत्मदेव भी जागता है । व्यक्ति-व्यक्ति का आत्मदेव जागे तो राष्ट्र भी जागता है ।

अकेले में अग्नि जले तो वह थोड़ी देर में बुझ जाएगा । सबमें जलना चाहिए । और सब कैसे हों ? सुरथ हों, उत्तम रथारोही हों । यह शरीर ही रथ है । इसमें आत्मदेव आरूढ़ है । उत्तम स्वस्थ शरीर में आत्मदेव जागें तो फिर निद्रा और चिर-निद्रा (मृत्यु) को भागते देर नहीं लगती । शरीर तो मरणधर्मा है । उसमें अमर अग्नि—आत्मदेव को जगाएँ । राष्ट्र का भौतिक स्वरूप भी नश्वर है । उसमें अमर स्वराट्—राष्ट्र का प्रकाशमान् स्व जागे । तब उसमें जो कुछ क्रिया-कलाप होंगे वे उस स्वराट् को समर्पित होंगे और वह उनका आस्वादन करेगा ।

उस अग्रणी अग्नि या स्वराट् के विशेषण हैं—दक्ष अर्थात् कर्मकुशल, कवि-क्रतु अर्थात् बुद्धिपूर्वक काम करने वाला, मेधावी या क्रान्तकर्मा तथा देव अर्थात्

दिव्य। सारे मनुष्य उसी के लिए अपने-अपने कर्म समर्पित करते हैं। वह उनको स्वीकार करके जागता है और सबको जगाता है। चिर जागरण का सन्देश पाने के लिए उस अग्रणी देव की आराधना करो। उसे जगाओ और स्वयं जागो।

दक्ष, कविक्रतु देव! समर्पित हम मर्त्यों की हवि स्वीकारो।
अमर अग्रणी! चख कर इसको, विश्व सुरथ को, जगो, जगाओ।

समर्पण का स्वर

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद् विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा।
(ऋ. १०.८१.७)

हम (ऊतये) अपनी रक्षा के लिए और (वाजे) शक्ति तथा शक्ति-साधनों के निमित्त (वाचस्पतिम्) वेदवाणी के स्वामी, (विश्वकर्माणम्) सृष्टि के निर्माता और (मनोजुवम्) सबके मन में प्रेरणा जगाने वाले परमात्मा को (हुवेम) बुलाते हैं या उसका स्मरण करते हैं। (सः) वह नः हमारी (विश्वा[नि] हवनानि) सब पुकारों को (जोषत्) सुने—स्वीकार करे। वह (विश्वशम्भूः) सबका कल्याण करनेवाला और (साधुकर्मा) उत्तम कार्य [सृष्टिनिर्माण] करनेवाला (नः अवसे) हमारी रक्षा के लिए [है]।

इस मन्त्र में दो क्रियाएँ प्रयुक्त हुई हैं हुवेम और जोषत्। इनमें से हुवेम का सम्बन्ध स्तोता से है और जोषत् का स्तुत्य से। धातुपाठ में जुषते कान्तिकर्मा क्रियाओं में पठित है। पाणिनि ने जुषी धातु को प्रीतिपूर्वक सेवन करने के अर्थ में प्रयुक्त माना है। स्तोता की ओर से हुवेम क्रिया द्वारा संकेतित कार्य स्तुत्य का कान्त-कर्म है और वह उसे प्रीतिपूर्वक स्वीकार करता है, यह भाव जोषत् क्रिया द्वारा प्रकट होता है।

(नः अवसे विश्वशम्भूः साधुकर्मा) स्तुत्य हमारी रक्षा के लिए ही विश्व-कल्याणकारी और उत्तम काम करनेवाला है, इस वाक्यांश से जोषत् क्रिया द्वारा संकेतित उपर्युक्त भाव की पुष्टि होती है। स्तुत्य परमेश्वर है। स्तोता-साधक में उसके प्रति असीम आस्था जाग्रत् हुई है। आस्था का सुन्दर आदर्श इससे अधिक क्या हो सकता है कि हमारा इष्टदेव जो कुछ है वह हमारे लिए है। इस मन्त्र की देवता और ऋषि विश्वकर्मा भौवन है। भुवन के लिए हितकारी होने से इष्टदेव भौवन है, भुवनाय हितः भौवनः। इसी तरह उत्तम कर्म करने वाला विश्वकर्मा कहलाता है, विश्वानि सर्वाणि शुभानि कर्माणि यस्य सः। देवता विश्वकर्मा

भौवन इस कारण है क्योंकि वह सबका हितकारी है और तदर्थ सृष्टिकर्म में उसकी प्रवृत्ति है। ऋषि विश्वकर्मा भौवन होने का तात्पर्य यह है कि स्तोता स्वयं उत्तम कर्म करने का सामर्थ्य प्राप्त करके लोकहित के लिए कर्म में प्रवंत्त होना चाहता है। देवता की प्रवृत्ति का संकेत मन्त्र में जोपत् क्रिया से और स्तोता—साधक की प्रवृत्ति का हुवेम क्रिया से मिलता है।

स्तोता इष्टदेव को वाचस्पति विशेषण से सम्बोधित करता है। वाक्-मय विश्व का पालक होने से परमात्मा वाचस्पति कहा गया है। वह स्तोता की उस वाणी का भी पालक है जिसके माध्यम से वह अपने इष्टदेव का सान्निध्य पाने, उनसे कर्मप्रेरणा लेने और कर्म में प्रवृत्त होने के लिए तत्परता प्रकट करता है। ऐसे अपने सहज-आत्मीय, चिरपरिचित इष्टदेव के लिए स्तोता ने चार विशेषणों का प्रयोग किया है। इनमें से दो विशेषणों का प्रयोग स्तोता ने इष्टदेव की महिमा का बखान करने के लिए किया है और अन्य दो का अपने लक्ष्य की ससिद्धि के लिए हृदयस्थ कामना को अभियजित करने की भावना से किया है।

परमेश्वर की महिमा पर प्रकाश डालने वाले विशेषण हैं, विश्वकर्माणम् और मनोजुवम्, सृष्टिकर्ता और सबके मनों को प्रेरणा देने वाला। वह परमेश्वर विश्वकर्मा होने के साथ साधुकर्मा और मनोजुव होने के साथ विश्वशम्भूः भी हैं। स्तोना स्वयं विश्वकर्मा बनकर चाहता है कि उसका प्रत्येक काम प्रशस्त, साधु हो। इसी तरह अपने मन का स्वामी बनकर स्व-राज्य प्राप्त करके वह चाहता है कि वह विश्व की कल्याणकामना में प्रवृत्त हो जाए। इन दोनों विशेषणों का प्रयोग करके साधक अपनी कामना का सर्वोत्तम रूप प्रतिध्वनित करता है। इस रूप को सिद्ध करने के लिए साधक इष्टदेव के प्रति अपनी मन की ललक को हुवेम क्रिया द्वारा व्यक्त करता है।

निरुक्त में ह्वयति क्रिया अर्चतिकर्मा मानी गई है। पाणिनि ने ह्वेञ् को स्पर्द्धा और पुकारने के अर्थ में प्रयुक्त माना है। साधक स्तोता अपने इष्टदेव को पुकारकर उनकी अर्चना करना चाहता है। इस पुकार, और पुकार में निहित अर्चाभाव को परमेश्वर प्रीतिपूर्वक स्वीकार करता है।

परमेश्वर को पुकारने के दो स्थूल उद्देश्य मन्त्र में आए हैं। एक है, अपनी रक्षा (ऊति) या अपने में व्याप्ति, तथा दूसरा, शक्ति और शक्तिसाधनों (वाज) की उपलब्धि। रक्षा के लिए साधारण व्यक्ति का आह्वान किया जाए तो वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार रक्षा-साधनों का विनियोजन आह्वान करनेवाले के प्रति करेगा; परन्तु सर्वोच्च सत्ता का आह्वान करने पर वह सत्ता आह्वाता में व्याप्त हो जाएगी और वह पूर्णतः निर्भय हो जाएगा। मन्त्र में परमेश्वर की अर्चना और स्तुति करता हुआ साधक ऐसी निर्भयता सम्पादन करना चाहता है।

निरुक्त में वाज को बल और अन्न का नाम माना गया है। वाजयति क्रिया वहाँ अर्चतिकर्मा मानी गई है। अन्न का काम शक्ति बढ़ाना है। साधक अर्चना का मार्ग शक्ति बढ़ाने और एतदर्थ आवश्यक साधनों की प्राप्ति के लिए अपनाता है। शारीरिक बल बढ़ाने के लिए स्वास्थ्यप्रद भोज्य पदार्थ, प्राणशक्ति को बढ़ाने के लिए वायुमण्डल में व्याप्त प्राणशक्ति और मनोबल बढ़ाने के लिए मानसिक दृढ़ता,—इन सबकी ओर वाज शब्द संकेत करता है। शक्ति और शक्ति-साधन मिलने पर ही साधक की रक्षा सम्भव होगी। परमेश्वर से यह याचना इसलिए की गई है क्योंकि उसका अस्तित्व ही साधक को ये सब देने के लिए, अवसे, है। अव् से ऊति और वाज दोनों संकेतित हैं। इस धातु का प्रयोग रक्षा, गति, शोभा, प्रीति, तृप्ति, बोध, प्रवेश, श्रवण, कार्यसाधना, मांगना, चेष्टा, इच्छा, प्रकाश, प्राप्ति, देना, विभाग करना, बढ़ाना, आलिंगन करना आदि अर्थों में होता है। परमेश्वर इन सब भावों की सिद्धि के लिए संसार में व्याप्त है। उससे इन सबकी कामना की जा सकती है।

इस प्रकार, साधक परमेश्वर की स्तुति करता हुआ कहता है कि हे मन, प्राण और वाक् के प्रेरक परमात्मा, आप सृष्टि-कर्म करने वाले हैं; हमें कर्म करने की सामर्थ्य प्रदान करो। आप मन को प्रेरणा देनेवाले हैं; हमें प्रेरणा प्रदान करो। आप सृष्टिकर्म विश्वकल्याण के लिए करते हैं; हमें भी लोकहित के लिए काम करने की प्रेरणा दीजिए। हमारा मन विश्व के सभी प्राणियों के हितचिन्तन में लीन हो जाए। हमारे सब कार्य सुन्दर और सार्थक हों। इस प्रकार हम साधुकर्मा बनें। यह सब हम निर्भयता सम्पादन करके अपनी रक्षा के लिए चाहते हैं और इसके लिए आपसे शक्ति और शक्तिसाधनों को उपलब्ध करना चाहते हैं। आप हमें हमारा अभीष्ट प्रदान कीजिए क्योंकि आपका अस्तित्व ही इसलिए है। इन अभिलाषाओं को लेकर हम आपको बुलाते हैं, आपकी अर्चना करते हैं। आप हमारे अन्तर्तम में विराजमान हैं। इसलिए हम आपके उस स्वरूप से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। आप हमारी पुकार को सुनिए, हमारी अर्चना को सप्रीत स्वीकार कीजिए, हमारे हृदय, मन और बुद्धि में असीम प्रेरणा भर दीजिए जिससे हम आपका चिन्तन और कर्मों में लीन रहते हुए साक्षात्कार कर सकें, आपके सान्निध्य में दिव्य जीवन बिता सकें। □

मनभावन का साक्षात्कार

यमैच्छाम मनसा ऽयमागाद् यज्ञस्य विद्वान् परुषश्चिकित्वान् ।
स नो यक्षद्देवताता यजीयान्नि हि षत्सदन्तरः पूर्वो अस्मत् ।

(ऋ १०.५३.१)

यम् ऐच्छाम मनसा अयम् आगात् यज्ञस्य विद्वान् पुरुषः चिकित्वान् ।
स नो यक्षत् देवताता यजीयान् नि हि सत्सत् अन्तरः पूर्वो अस्मत् ॥

(मनसा) मन से (यम् ऐच्छाम) जिसको हम चाहते हैं, (सः अयम्) वह यह (यज्ञस्य परुषः) यज्ञ के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को (चिकित्वान्) जाननेवाला (विद्वान्) ज्ञानवान् (आ अगात्) आया, प्रकट हुआ। (देवताता) देववितान (=यज्ञ) में (यजीयान्) अत्यधिक यजनशील (सः नः यक्षत्) वह हमारे लिए यजन करे। (अन्तरः) अन्तर में (पूर्वः) प्रमुख के रूप में (अस्मत्) हमारे बीच वह (नि-सत्सत्) विराजमान है।

इस मन्त्र में अग्नि की स्तुति की गई है। अग्नि वह 'एक देव' है जो अपनी महिमा से सभी देवताओं में व्याप्त हो रहा है, एक एवाग्निर्वहुधा समिद्धः। अध्यात्म-दृष्टि से वह आनन्दमय कोश का प्रकाशात्मदेव है जो कि विज्ञानमय कोश में अग्नि, इन्द्र और सोम की एक अव्याकृत इकाई होकर मनोमय से लेकर अन्नमय तक अनेक देवों की सृष्टि में परिणत हो जाता है। 'एक देव' का अनेक देवों या देवकर्मों में वितान होना देवताति (यज्ञ) कहलाता है। इसे ज्येष्ठताति या सर्वताति भी कहा जाता है। ऐसे यज्ञ में परम कुशल होने से अग्नि को यजिष्ठ कहा जाता है। इसी अभिप्राय से यहाँ यजीयान् शब्द प्रयुक्त हुआ है।

यज् धातु का प्रयोग देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थ में होता है। शरीरस्थ देवगण 'एक देव' अग्नि से तादात्म्य स्थापित करने रूपी यज्ञ की, साधक अपनी इन्द्रियों (देवसंज्ञकों) को सत्कर्म की ओर प्रवृत्त करके देवपूजा-रूप यज्ञ की, और अग्नि 'देवताति' में साधन-सम्पत्ति को अपने देवत्व से अनुप्राणित करके दान-परक यज्ञ की सृष्टि करते हैं।

देवयज्ञ के प्रतीक, अग्निहोत्र में यज्ञकर्म का ज्ञाता, विद्वान् वेदि पर बीच में बैठकर यजन करता है। यजमान यज्ञ सम्पादन करने के लिए उसकी कामना करता है। यह सारा ब्रह्माण्ड और उसका संक्षिप्त संस्करण, शरीर देवयज्ञ के अधिष्ठान हैं। अग्निरूप परमात्मा इनके केन्द्र में स्थित होकर यज्ञ-सम्पादन करता है। इस मन्त्र में ऐसे अग्नि की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त करके साधक अपने मानसिक उल्लास को प्रकट कर रहा है, 'लो, जिनकी हमने मन से कल्पना की थी वह सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप परमात्मा हमारे सामने प्रकट हुआ।' जिसको उसकी अनुभूति हुई, उससे वह कहता है, 'जिसकी हम मन से कामना करते हैं, वह इस संसार-रूपी यज्ञ के केन्द्र में स्थित होकर यज्ञवितान कर रहा है। वह इस यज्ञ के पर्व-पर्व (परुषः)—अङ्ग-प्रत्यङ्ग को जानता है। तुम भी सृष्टि के प्रत्येक उपादान को जानकर उसके माध्यम से उस परमतत्त्व को अनुभव का विषय बनाओ। वह तुम्हारे अन्तर में विद्यमान है। उससे प्रेरणा लेकर सत्कर्म में प्रवृत्त होओ।'

अग्नि को चिकित्वान् और विद्वान् कहा गया है। साधक साधारण रूप से जिन कर्मों को करता है, उनकी संज्ञा पशु-यज्ञ है, क्योंकि उनका प्रवर्तन उसकी अन्नमयकोश की उस श्रम-शक्ति से होता है जो कि अन्धस्-संज्ञक अन्न से उत्पन्न होती है। 'देवताति' में जिस यज्ञ के यजन के लिए साधक अभिलाषा प्रकट कर रहा है वह यज्ञ चेतनायुक्त (पशु-यज्ञ से ऊपर) होना चाहिए। देव-प्रवर्तित यज्ञ चेतनायुक्त ही होता है—त्रिकद्रु केषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत। ऐसा यज्ञ करने के लिए साधक को अग्नि के समान चेतनासम्पन्न, 'चिकित्वान्' बनना होगा। पशु-यज्ञ करते हुए वह 'नचिकेता' है। चेतना का यज्ञ करते समय वह 'चिकित्वान्' और 'विद्वान्' हो जाएगा। जिन गुणों को साधक अपने में जगाना चाहता है, उन्हीं के पुञ्जीभूत रूप की वह अपने इष्टदेव में कल्पना करता है। तदनुसार ही यहाँ उपर्युक्त विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। 'चिकित्वान्' का यज्ञ 'देवताति' के अनुरूप होगा और तदनुकूल ही दिव्य होगा। हृदय में कर्मप्रेरक ईश्वर विद्यमान है,

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। (गीता)

उसकी प्रेरणा से ही ऐसा यज्ञ किया जा सकता है। इस मन्त्र में अग्नि की स्तुति ऐसी प्रेरणा पाने के लिए की गई है। साधक भावना करता है कि जैसे अग्नि केन्द्र में स्थित होकर पिण्ड और ब्रह्माण्ड में देवयज्ञ का वितान करता है वैसे ही वह उसके हृदय में प्रकट होकर दिव्यकर्मों की प्रेरणा भी दे रहा है।

इन्द्रजाल

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान्। अथर्ववेद ८.८.८

१ (अयं लोकः) यह लोक (महतः शक्रस्य) महान् सामर्थ्यशाली [इन्द्र] का (महान् जालम् आसीत्) महान् जाल था/है,

२ (अहं तेन इन्द्रजालेन तमसा) [इन्द्र की उक्ति—] 'मैं उस इन्द्रजाल [और] तम से (अमून् सर्वान् अभि-दधामि) इन सब [प्राणियों और पदार्थों] को धारण करता हूं।'

इन्द्रजाल (जादू) का नाम सुना है? जादू के करिश्मे भी देखे होंगे; पर यहाँ मन्त्र में परमेश्वर के जादू का उल्लेख है। वह भी बाजीगर (बाज—सामर्थ्य प्रकट करनेवाला) है। यह लोक—धरती, आसमान और अन्तरिक्ष—उसका जाल है। जाल आवरण को कहते हैं, जिसमें सब लिपटे हों। यह लोक उसी महान्,

समर्थ इन्द्र का महिमाशाली जाल है। वह प्राणियों को इस जाल में लपेटे हुए हैं। सारे पदार्थ इसी में बनते और बिगड़ते हैं। सारे शरीरधारी इसमें जन्म लेते और मरते हैं। यह इन्द्रजाल अन्धकारमय है, अव्यक्त है। इस अव्यक्त में से सब व्यक्त होते हैं और पुनः अव्यक्त में खो जाते हैं। साधको, परमपिता के इस जादुई करिश्मे को देखो, देखते रहो। कितना आनन्द आता है इसे देखने में ?

गोस्वामी तुलसीदास ने उस कर्ता की कारीगरी का बखान करते हुए कहा है—

केशव कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये।।
शून्य भींत पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।

उसकी रचना कितनी विचित्र है ? शून्य की भित्ति (आधार) पर बिना रंगों के चित्र बनाया है बिना शरीर के (निराकार) चित्रकार ने। इन्द्र परम चेतना का वह रूप है जो विज्ञानमय कोश में रहता है। उसको बुद्धि कहा जाता है। बुद्धि प्रकृति का चेतना-बिम्बित रूप है। इस बिम्बन क्रिया से महत् से अहङ्कार पैदा होता है। उससे पंचभूत, पंचतन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पंचप्राण आदि का विकास होता है। यह विकास इतनी जटिल प्रक्रिया है कि इसे इन्द्रजाल ही कहा जा सकता है।

शरीर का जो स्थूल रूप दिखाई पड़ता है वह भी सचमुच जादू है। मस्तिष्क के छह किलो के पिण्ड में कितनी शक्ति भरी हुई है इसकी कल्पना ही की जा सकती है। संवेदनाओं का संसार अपने केन्द्र से कैसे जुड़ा हुआ है ? आँख में कितनी सूक्ष्म नाड़ियाँ रूपदर्शन में सहायक बनती हैं ? शब्द-चेतना को ग्रहण करने वाले श्रोत्र कैसे काम करते हैं ?त्वचा स्पर्श से किस तरह संवेदना ग्रहण करती है ? शरीरस्थ रक्तसंचार की प्रक्रिया, पाचन-संस्थान, प्राणन प्रक्रिया आदि का रहस्यं कितना गहरा है ? इन्द्र के इस इन्द्रजाल को

लोक यह उस महान् का
है महान् इन्द्रजाल
जाल वह तम निर्मित
सबको धारण करता। ▫

मधुमय जीवन

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।। (ऋ १.९०.६)

(ऋतायते) ऋत-काम के लिए/ऋताचारी के लिए (वाताः) वायुएँ (मधु क्षरन्ति) मधु क्षरण करती हैं, (सिन्धवः मधु क्षरन्ति) नदियाँ मधु क्षरण करती हैं। (ओषधीः) ओषधियां (नः माध्वीः सन्तु) हमारे लिए मधुर हों।

ऋत शब्द का प्रयोग यहाँ प्रकृति, प्राकृत नियम तथा मानवीय, साधु आचार-विचार के लिए हुआ है।

शरीर में प्राणों की संज्ञा मधु है। आत्मा मधुकरराज है। इन्द्रियाँ हैं मधुकरियाँ। शरीरगत प्राणों का सम्बन्ध पाञ्चभौतिक जगत् के विविध उपादानों के सूक्ष्म अंश के साथ भी हैं। उस सूक्ष्म अंश की संज्ञा भी मधु है। इन्द्रिय-मधुकरियाँ ब्रह्माण्डगत मधु को सञ्चित करती हुई शरीरगत प्राणों का पोषण करती रहती हैं। प्राणों के पोषण से आत्मा भी तुष्ट रहता है। शरीरगत मधु की अभिवृद्धि तभी सम्भव है जब मनुष्य ब्रह्माण्डगत मधु को जान ले और उसे संचित करने का अनवरत अभ्यास करता रहे। इस मन्त्र में प्रकृति में से मधु संचित करने की कामना की गई है।

शरीर धारण करने के लिए सबसे अधिक आवश्यकता वायु की होती है। इसलिए सबसे पहले मन्त्र में वायु में निहित मधु [प्राणतत्व] की ओर संकेत है। वायु में निहित मधु शरीर में जाकर प्राणवायु का अङ्ग बन जाता है और मनोमय कोश का पोषण करता है। इसी तरह जल और ओषधियों के मधु को ग्रहण करने से शरीरगत अन्नमय और प्राणमय कोषों की सम्पुष्टि होती है।

मधु शब्द मद् तथा दुह धातुओं के संयोग से निष्पन्न है। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ है वह पदार्थ है जो दुहे जाने पर मद [तृप्ति, आनन्द] प्रदान करे। सर्जक प्रकृति से मधु का दोहन किया जाता है। प्रकृति में से दुहा हुआ मधु शरीर-स्थित-प्राणों को पुष्ट करता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति में मधु का सम्बन्ध सत्त्वगुण से है। साधक अपने मन को वत्स बनाकर कामदुघा प्रकृति से मधु को दुहता है। वेद में ब्रह्मचारी को मधुमान् कहा गया है। सतत साधना करते हुए प्रकृतिगत मधु को प्राप्त करके साधक मधुमान् बन जाता है।

मधुमान् बनने पर साधक की जड़ता-ग्रस्तता समाप्त हो जाती है और उसकी चित्तवृत्ति सात्त्विक हो जाती है। शरीर में उसकी वृद्धि होने पर शरीरगत चैतन्य उसमें प्रतिबिम्बत होने लगता है और वह इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति को पाने के लिए साधक कामना करता है कि वह जिस वायु को श्वास के रूप में ग्रहण करता है उसका मधु उसे प्राप्त हो, जिस जल को वह पीता है उसका मधु उसे प्राप्त हो और जिन ओषधियों को वह शरीर-पोषण के लिए सेवन करता है उनका मधु भी उसे प्राप्त हो। ऐसा तभी होगा जब वह ऋतकामी और ऋतानुयायी बनेगा।

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तु न पिता ।। (ऋ. १.९०.७)

(नः) हमारे लिए (नक्तं उत उषसः) रात्रि और उषाएँ (मधु) मधु-समुपेत हों, (पार्थिवं रजः मधुमत्) पार्थिव लोक मधुमुक्त हो, (पिता द्यौः मधु अस्तु) पिता द्यौ मधुप्रद हो।

ऋतुगामी को प्राप्त होने वाले मधु के दो स्रोत हैं—एक देशानुगत और दूसरा कालानुगत। साधक इन दोनों ही स्रोतों से मधु प्राप्त करना चाहता है। रात्रि और उषा का सम्बल काल से है। साधक मधुमय जीवन की कामना से इन्हें मधुसंयुक्त-रूप में प्राप्त करना चाहता है जिससे उसकी पूर्ण जीवनावधि मधुसम्पृक्त होकर बीते।

पृथिवीतत्व से साधक की शारीरिक प्रमा (विस्तार) का निर्माण होता है और द्यौ इस प्रमिति को अवकाश प्रदान करता है। जीवनतत्त्व को यदि काल बीजरूप से विकसित करके परिपक्व न करे, पृथिवी प्रमित न करे और द्यौ अवकाश प्रदान न करे तो शरीर की स्थिति असम्भव हो जाए। मधुमय जीवन की प्राप्ति के लिए इन सबसे साधक मधु दुहना चाहता है। मित करनेवाली होने से पृथिवी को माता और अवकाश प्रदान करके पालन करनेवाली होने से द्यौ को पिता कहा जाता है। द्यौ के साथ पिता विशेषण का प्रयोग बताता है कि मधुमय जीवन की दायाद्य पैतृक परम्परा से प्राप्त होती है।

मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।। (ऋ १.९०.८)

(नः) हमारे लिए (वनस्पतिः मधुमान्) वनों का पालक चन्द्रमा मधुर हो; (सूर्यः मधुमान् अस्तु) सूर्य मधुर हो। (नः गावः माध्वीः भवन्तु) हमारे लिए गौएँ मधुमती हों।

कालविधायक सूर्य और चन्द्रमा का भी मधुप्रदाता के रूप में उल्लेख किया गया है। सूर्य सृष्टि के सर्जक अग्नितत्त्व का एक रूप है जो केन्द्र में रहकर सर्जन में योग देता है। चन्द्रमा जलतत्त्व का प्रेरक है। वन जल का पर्यायवाची शब्द है। जल को समाहित करने वाले होने से पेड़-पौधे वनस्पति कहलाते हैं। जल का सूक्ष्म भाग आपः कहा जाता है। सूर्य और वनस्पति शब्दों में अग्नि और सोम [आपः] —सृष्टि के इन दो मूल तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है। सूर्य और चन्द्रमा के पिण्ड इन तत्त्वों के बहुत ही स्थूल रूप हैं। साधक इन सभी का मधु-प्राप्ति में उपयोग करना चाहता है।

ऊपर मधु-दोहन करनेवाली प्रकृति—मधुदुघा का उल्लेख किया गया है। उसके विविध रूपों की ओर अन्त में गावः पद से संकेतित करते हुए उनको

माधुर्योपेत रूप में प्राप्त करने की कामना की गई है। पृथिवी, पशु, गो, सूर्य, रश्मि, अन्तरिक्ष आदि अनेक अर्थों में गो शब्द का व्यवहार होता है। इनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध सर्जन से है। ये सब एक ही मूलप्रकृति के विविध रूप हैं। साधक को प्रत्येक का उपयोग मधुप्राप्ति के लिए करना है।

मनु बन

तन्तुं तन्वन्नजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥

(ऋग्वेद १०.५३.६)

१ (तन्तुम् तन्वन्) तन्तु को तानते हुए (रजसः भानुम्) रज के प्रकाशक का (अनु-इहि) अनुगमन करो।

२ (धिया कृतान्) बुद्धि से निर्मित (पथः) मार्गों को (ज्योतिष्मतः रक्ष) ज्योतियुक्त रखो।

३ (जोगुवां अनुल्बणं अपः वयत) उन्नति वा कीर्ति चाहने वालों के कष्ट न देने वाले सत्कर्मों को करो।

४ (मनुः भव) मनु बनो। (जनं दैव्यं जनय) जन को देव का बनाओ।

इस मन्त्र में तन्तु और वयत शब्दों के संकेतों से वस्त्र-निर्माण-कर्म की ओर ध्यान जाता है। तन्तु को ताने और बाने के रूप में तानने से वस्त्र बनता है। यह सब करते समय तन्तु को एक निश्चित प्रक्रिया में वितत करना होता है। जीवन भी कर्मों का तन्तु-जाल है। सन्त कबीर ने झीनी झीनी सुख बीनी रे चदरिया पद में जीवन को चादर कहा है। जीवन का यह 'चादर' प्रतीक इस मन्त्र में संकेतित है।

चादर बनाने में तन्तु तानने (तन्तु तन्वन्) का कार्य सर्वप्रथम किया जाता है। बाने द्वारा संघटित किए जाने तक उसकी रक्षा की जाती है और वस्त्र बन जाने पर कूर्च फिरा कर उसे स्वच्छ व अकष्टकर बनाया जाता है। जीवन में कर्म- भी इसी तरह किया जाता है।

जीवन धारण करने और कर्मवितान करने के लक्ष्य की ओर संकेत करने वाला शब्द अनुल्बण है। 'उल्व' शब्द ऊर्णु (आच्छादन करना) या √वृ धातु से व्युत्पन्न है। इस शब्द का अर्थ है—अच्छादन करने वाला, जरायु। असीम चैतन्य-तत्त्व शरीर में ससीम होकर जीवन धारण करता है। क्षण-क्षण परिवर्तमान संसार में यह क्रम बराबर चला करता है। जीव को जन्म-मरण-चक्र में भटकते रहने और

ससीम रहने की विवशता का महान् कष्ट भोगना पड़ता है। सत्कर्मों के करने से यह कष्ट दूर हो जाता है, जीव मुक्त हो जाता है। 'अनुल्वण' होने के लिए ही कर्म-वितान का मार्ग है।

इस प्रकार, इस मन्त्र में चादर बुनने की तरह कर्म-वितान करते हुए जरा-मरण के कष्ट से मुक्त होने की प्रेरणा साधक को दी गई है।

[२]

कर्म-वितान को वेदों में 'यज्ञ' संज्ञा प्राप्त हुई है। साधक अपने जीवन-यज्ञ को ब्रह्माण्ड में चलने वाले दैव यज्ञ से प्रेरणा लेकर चलाता है। दैव यज्ञ का छोटा-सा संस्करण अग्निहोत्र में देखा जा सकता है जिसमें प्रज्वलित अग्नि में घृताहुति दी जाती है। अग्नि ही इस यज्ञ का आधार है जिसके प्रदीप्त होने का अर्थ है—सर्जन-कार्य का प्रारम्भ होना। विविध शरीरों में वह अग्नि बहुधा समिद्ध होता है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः। (ऋ. ८.५८.२)

इस मन्त्र को अग्निदैवत माना गया है। अग्नि की सर्जन में प्रवृत्त होने की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए इस मन्त्र में जीवन-निर्माण के लिए प्रेरणा दी गई है। श्लिष्टार्थ-गुम्फन की यह प्रवृत्ति वेदों में सर्वत्र देखी जा सकती है।

अग्नि तन्तु का तनन करता हुआ लोकों के केन्द्र-स्वरूप सूर्य का अनुगमन करता है। सत्कर्मों द्वारा प्राप्तव्य ज्योतिर्मय मार्गों की रक्षा करता है और स्तोता को अकष्टकर कार्यों के लिए प्रेरणा देता है। अग्नि ही पृथिवी से सूर्य तक व्याप्त मनु नामक प्राण-तत्त्व बनता है और दैव-जन्य, अन्य सर्जक प्राणों को उत्पन्न करता है। कर्मवितान के लिए साधक भी यही क्रम अपनाता है।

मन्त्र में तन्तु शब्द पारिभाषिक है। जिस तन्तु का तनन अग्नि करता है और अब साधक को करना है वह ऋत का तन्तु है जो ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है —ऋतस्य तन्तुं विततम् (अ. २.१.५)। सृष्टि-व्यापी ऋत-तन्तु का अनुकरण करते हुए कर्म करना साधक का सहज मार्ग है। ऋत का अभीद्ध रूप ही अग्नि है। उसके सर्जन-कर्म को आदर्श मानकर तदनुकूल व्यवहार करते हुए जीवन विताना ही साधक के लिए विधेय है। ऐसा करके ही वह सच्चा मनुष्य बनता है और दिव्य भावनाओं से समुपेत होता है।

[३]

सत्कर्मों में लीन मनुष्य ही ऋत के मार्ग पर चल पाता है। अपने कर्मों को ऋतानुप्रेरित मान लेने पर कर्ता कर्म से तटस्थता पा लेता है। ऐसी तटस्थता पा लेना ही मुक्ति है जिसे जीवन में ही प्राप्त कर लिया जाता है। ऐसी मुक्ति के लिए कर्म-विरति आवश्यक नहीं है।

मनुर्भव—सच्चे मनुष्य बनो, यह कहकर जीवन के एकमात्र साध्य की ओर मन्त्र में संकेत किया गया है। बड़ा पद पा जाना, पर्याप्त सुख-सुविधा के साधन

जुटा लेना, संसार-भर को जीत लेना और चन्द्रादि लोकों में पहुंच जाना—इन सबकी सार्थकता तभी है जब मनुष्य सच्चा मानव बन जाए। दैव जगत् में अग्नि मनु बनकर सृष्टि में प्रवृत्त होता है। हम भी मनु—मननशील मानव बनकर अपने जीवन को सार्थकता प्रदान करें। मनु बनने पर सर्जन-सामर्थ्य जागती है। साधक मनु बनकर दैव्य-जन की सृष्टि करेगा—अपने आप में देवता को जगा लेगा जिससे अनुप्राणित होकर उसका जीवन कृतकृत्य हो जाएगा। इसलिए मन्त्र में 'मनुर्भव' के साथ जनय दैव्यं जनम् कहा गया है। साधक का यह सर्जन आत्म-केन्द्रित है। इसलिए वह अपने ही जन्म को दिव्यरूप में जनता है। उसका प्रथम जन्म प्रकृति-प्रेरित है तो यह दूसरा जन्म आत्म-प्रेरित है। इसलिए 'जनय दैव्यं जनम्' का अन्वय 'जनं दैव्यं जनय' कर लेना उचित होगा। वह ऐसा मनु बने जो अपने व्यक्तित्व में देव का सर्जन करे। यह उसकी द्विजता होगी।

यह सृष्टि सर्जक-तत्त्व अग्नि की मनुना का फल है। मानव-समाज आदि-मानव—मनु की मनुना का फल है। इसी तरह साधक का दिव्य-जीवन उसकी मनुता का फल बने। ऐसा करने के लिए साधक कर्म-वितान करे।

'तन्तुं तन्वन् रजसः भानुम् अनु-इहि'—कर्म-वितान का यह सूत्र यहां प्रस्तुत किया गया है। 'रजस्' समस्त जड़पिण्डों के मूल-तत्त्व का नाम है। सारे लोक रजस्-निर्मित हैं—रजोभूत हैं। उनका केन्द्र प्रकाशमान् चैतन्य होता है। उसे ही भानु कहा जाता है। रजोभूत-लोकों की रजस् वा गति का प्रेरक 'भानु' या सूर्य ही है। 'भा+अणु'—प्रकाशाणु का नाम ही भानु है। इसके विपरीत पार्थिव-पिण्ड 'स्थाणु' हैं। भानु का काम स्थाणु में गति जगाना है। भानु या सूर्य के कार्य का अनुकरण करना ही साधना का सहजक्रम है। भानु का काम त्रयीमय-ऋग्यजुस्साम-युक्त होता है। लोकव्यवहार का क्रम भी वेद-त्रयी से प्रेरणा लेकर निर्धारित किया जाता है। मन्त्र में उद्बोधनसूत्र प्रस्तुन किया गया है—तन्तु का तनन करते हुए, जीवन-यज्ञ का वितान करते हुए भानु का अनुगमन करो। भानु अग्नि का ही रूप रूप है। इसलिए अग्नि बनकर उसमें ऐन्द्रियिक-विषयों की आहुति देते हुए जीवन-यज्ञ का वितान करने की वात कहीं गई है। यद्यपि यहां 'तन्तु' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है; परन्तु लक्षणा से इसे 'सप्त-तन्तु' मान लेना चाहिए। सप्त-इन्द्रियों में ऋत-तन्तु का अनुसरण करते हुए साधना करना विधेय है। तन्तु का तनन इन्द्रियों के सामर्थ्य को बढ़ाना है। ऐसा करते हुए साधक भानु वने।

'धिया कृतान् पथः ज्योतिष्मतः रक्ष', इस वाक्य में भानु बनने या भानु का अनुसरण करने की प्रक्रिया को समझाया गया है। बुद्धि का उपयोग करते हुए—विवेकशील बनकर काम में लगना पहली शर्त है, समाज-कल्याण के परम्परागत मार्गों को अपनाना दूसरी शर्त है और उन मार्गों को अपनी दीप्ति से दीप्तिमान्

करना तीसरी शर्त है। इस क्रम को एक वाक्य में कहा गया है कि बुद्धि से परम्परागत मार्गों को ज्योतिर्मय करते हुए आगे बढ़ो। कहीं उनमें प्रमादि के कारण या समयान्तर से बुराइयां जा गई हों तो उनको दूर करो। यहां इस ओर भी संकेत है कि विवेकपूर्ण अपना मार्ग स्वयं चुनो और दूसरों को प्रेरणा देने के लिए उसे आदर्श रूप में प्रस्तुत करो।

'जोगुवाम् अनुल्बणं अपः वयत' सूत्र में कर्म-तटस्थता पर बल दिया गया है। √गा धातु से व्युत्पन्न 'जोगुवाम्' शब्द का अर्थ है उन्नति या कीर्ति चाहने वाला। ऐसा साधक ऐसे पुण्य कार्यों में लगे जिससे वह जरा-मरण के कष्ट से छूट माए। कर्मों से तटस्थ रह—उनके फल का भागी स्वयं को न बनाकर ही ऐसा किया जा सकता है।

इस प्रकार यहां जीवनयज्ञ के प्रेरणाप्रद सूत्र प्रस्तुत करते हुए साधक को उद्बोधित किया गया है—

१ जीवन-यज्ञ का वितान करते हुए भानु बनो या भानु का अनुसरण करो।

२ विवेकपूर्वक अपना मार्ग अपनाओ और परम्परागत मार्गों पर प्रकाश की किरण बिखेर दो।

३ उन्नति या कीति की कामना करने वाले बनकर जरा-मरण से छुड़ाने वाले पुण्य कार्य करो।

और इस प्रकार मनु बनो—मनुष्य बनो, अपने जीवन में देवत्व को उत्पन्न करो।

उषर्बोध

उषो भद्रेभिरा गहि दिवश्चिद्रोचनादधि।
वहन्त्वरुणप्सव उप त्वा सोमिनो गृहम्॥ ऋ. १.४९.१

१ (उषः)! (आ-गहि) आ (भद्रेभिः) भद्रताओं, कल्याणों सहित (दिवः चित् अधि-रोचनात्) द्युलोक के भी ऊपरले ज्योतिर्धाम से।

२ (अरुण-प्सवः) अरुण-रूपताएँ, अरुण रश्मियां (त्वा) तुझे [मुझे] (सोमिनः गृहम्) सोमी के गृह के प्रति (उप-वहन्तु) उपवहन करें, पहुंचाएँ।

ज्ञानदीप्त विवेकशील पुरुष को उषर्बुध कहा जाता है। प्रातःकाल उठकर चिन्तन करना तो उषर्बुध का बहुत ही स्थूल लक्षण है। विवेकशील व्यक्ति सामान्य लोगों की तरह न सोता है, न जागता है। जब सर्वजन रात्रि [मोहनिद्रा] में सोते हैं तब वह जागता है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। (गीता २.६९)

यहां जिस उपा का वर्णन है, वह उस उपा का है जिसमें विवेकशील व्यक्ति जागता है। उपा शब्द √उछी (विवासे धातु से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ है प्रकट होना, आवरण-मुक्त होना। अविद्या या अज्ञान का आचरण मानव-बुद्धि पर पड़ा हुआ है। उससे मुक्त होने वाला उपाकाल [ज्ञानलोक] में विवस्वान् संज्ञा का अधिकारी बनता है। मानव-जाति का आदि पुरुष, मनु विवस्वान् का पुत्र माना जाता है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक मनुष्य का विवस्वान् होना सम्भव है क्योंकि आत्मा वै जायते पुत्रः के सिद्धान्त के अनुसार मनु और उसकी सन्तान विवस्वान् रूप ही हैं। मानव का यह रूप संसार की माया-रात्रि में प्रच्छन्न रहता है और इस रात्रि का विनाश होने पर वह अपने वास्तविक रूप को प्रकट करके, जाग्रत होकर उपबुंध हो जाता है।

विवस्वान् का पर्यायवाची शब्द चिकित्वान् है। माया-रात्रि में सोया हुआ प्राणी नचिकेता [न-चिकेता, चेतनारहित, विमोहित] कहलाता है। जाग्रत होकर वह अपने चिन्मय-चेतन स्वरूप में स्थित हो जाता है। अपने इस स्वरूप को पाने के लिए ही वह दिव्य उपा का आह्वान करता है। यह उषा दिव्य भावों से अनुप्राणित होती है और दीप्तिमत्ता की जननी होती है। भौतिक उषा का आविर्भाव सूर्य-मण्डल की दीप्ति से होता है। इसी तरह आध्यात्मिक उषा का उद्भव शरीरस्थ विज्ञानमय कोष से होता है। जैसे भौतिक उपा के उदय होने पर मनुष्य कल्याण-कार्यों में जुट जाते हैं, उसी तरह आध्यात्मिक उषा का उदय भी कल्याणकार्यों के वितान में सहायक होता है।

गृह शब्द का अर्थ है, जिसमें ग्रहण किया जाए या प्राप्त किया जाए। आध्यात्मिक उपा का उदय साधक के शरीर में होता है। इसलिए शरीर की संज्ञा गृह है। मनुष्य सत्य, यश और श्री की कामना करता है—सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रीयताम्। श्री-सम्पन्न होने पर सत्य और यश स्वतः ही शरीर में आश्रित हो जाते हैं। श्री सोम को भी कहा जाता है, श्रीर्वै सोमः (शतपथ ४.१.३.९)। शरीर में श्री की कामना करने वाले को सोमी कहा गया है। उषा सोमसम्पन्न या श्रीसम्पन्न शरीर में ही आविर्भूत होती है।

उपा को अरुणवर्णी गौएँ या रश्मियां लाती हैं। गति रजःप्रेरित होती है। तमोगुणयुक्त रजोगुण दिव्यत्व में सहायक होता है। दीप्तिमान् द्युलोक से उपा को लाने वाली अरुणवर्णी रश्मियां सत्त्वानुप्रेरित रजोगुण की हैं।

साधक इस मन्त्र में दिव्य भावों से अनुप्राणित चारित्रिक दीप्ति को उत्पन्न करने वाली उपा को अपने श्रीसम्पन्न शरीर-गृह में अरुण रश्मियों से वहन की जाती हुई कल्याणकार्यों की प्रेरिका बनकर आने के लिए आहूत करता है।

सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम्।
तेना सुश्रवसं जनं प्रावाद्य दुहितर्दिवः॥ (ऋ. १.४९.२)

१ (उषः) ! (दिवः दुहितः) द्यौ की दुहितः ! (त्वम्) तू (यम्)जिस (सु-पेशसम्) सु-रूप, सुन्दर (सुखम्) सुखकारी (रथम्) रथ पर (अधि-अस्थाः) आरूढ़ हुई है,

२ (तेन) उस [रथ] से (सु-श्रवसं जनम्) [मुझ] शोभन-श्रव जन को/की (अद्य) आज (प्र-अव) सु-रक्षा कर।

उषा को दिवः दुहिता कहा गया है, क्योंकि वह दिव्य लोक या दिव्य भावों का दोहन करती है। 'रथ' शब्द प्रगति-सम्पन्न शरीर का अर्थवाची है। शरीर भौतिक सुखों और सुन्दर रूप से सम्पन्न है। दिव्य भावों का दोहन करने वाली उषा ऐसे शरीर को अपना अधिष्ठान बनाने को तत्पर है; किन्तु साधक शरीरमात्र नहीं है; वह ज्ञान-सम्पन्न प्राणी है। इसीलिए वह दिव्य उषा के प्रादुर्भाव से शरीर के उल्लसित होने मात्र से सन्तुष्ट न होकर आध्यात्मिक आनन्द में लीन होने की कामना करता हुआ साधना जारी रखता है।

श्रव अन्न या धन की संज्ञा मानी गई है। शरीर धारण करने के लिए तो मनुष्य अन्न ग्रहण करता ही है; पर आध्यात्मिक साधना के लिए जो कुछ वह बाहर से ग्रहण करता है, यथा परमात्मा के गुणों का ग्रहण और पवित्र नामों का श्रवणादि, उसकी भी संज्ञा अन्न है। श्रव ऐसे ही अन्न का नाम है। ऐसे अन्न का जो अंश शरीर या मन या बुद्धि में संचित रह जाता है उसे धन कहा जाता है। सुश्रवस् शब्द का तात्पर्य है उत्तम अन्न या धन वाला। ऋषि सत्यद्रष्टा होते हैं—सत्यश्रुतः कवयः (ऋ. ५.५७.८; ५८.८; ६.४९.६]। बहुश्रुत होना प्रज्ञा-सम्पन्नता का लक्षण है। सुश्रवस् में √श्रु धातु दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवण, दिव्य स्पर्श, दिव्य स्वदन आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न होने की ओर संकेत करती है।

मन में साधक कामना करता है कि उषा उसके सुन्दररूप-सम्पन्न शरीर को अधिष्ठान बनाकर सुख प्रदान करने के साथ ही दिव्य भावों का दोहन करने वाली होकर उसके अन्तःकरण को भी प्रदीप्त करे, क्योंकि वह उत्तम गुणों से सम्पन्न होकर सुश्रवस् बन चुका है। अधिकारी जन की उत्कृष्ट कामना पूर्ण होती है। अधिकारी होने के नाते उसे भी दिव्यत्व प्राप्त हो।

वयश्चित् ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि।
उषः प्रारन्नृतूँरनुदिवो अन्तेभ्यस्परि ॥ ऋ. १.४९.३

(अर्जुनि) शुभ्रवर्णे ! (उषः) ! (वयः चित्) पक्षियों के समान (ते पतत्रिणः) तेरी गमनशील रश्मियां (द्वि-पद चतुःपद) मानव और पशु के प्रति (ऋतून्-अनु) ऋतुओं के अनुसार, आगमन-काल के अनुसार (दिवः अन्तेभ्यः परि) द्यौ के छोरों से परे तक (प्र-आरन्) व्यापी हुई हैं।

उषा को यहां अर्जुनी कहा गया है। अर्जुन नाम शुक्लवर्ण का है। सत्त्व-गुणोपेत होने से प्रकाशिका उषा को अर्जुनी कहा गया है। सत्त्वं लघुप्रकाशकम्

के अनुसार प्रकाशिका उषा लघुता [हल्कापन, फुर्ती] से भी समुपेत है। पक्षी लघुता के कारण ही आकाश में उड़ते हैं। उषा की रश्मियां पक्षी के समान दूर तक गमन करने में समर्थ होती हैं। ऋतु-ऋतु में भिन्न-भिन्न प्रकार के पक्षी आते हैं। सूर्य की रश्मियां भी ऋतु-काल के अनुसार अपना प्रभाव दिखाती हैं। स्त्रियों का ऋतु-काल प्रसिद्ध है। प्रत्येक प्राणी में विशिष्ट स्वभाव-क्रम के अनुसार काम करने की ऋतु होती है। साधक ने स्वयं को दिव्य उषा से अनुप्राणित होने के लिए साधना-सम्पन्न कर लिया है। इसीलिए कहा गया है कि जो उषा विशेष समय पर सभी प्राणियों को दिव्यता प्रदान करने के हेतु कृपालु होकर समुदस्थित होती है। वह दिव्य भावभूमि से उतर कर उन्हें प्राप्त होती रहे और साधक को दिव्य भावों से अनुप्राणित करे; उसकी रश्मियां पक्षी के समान उड़कर उसे प्राप्त हो।

व्युच्छन्ती हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम् ।
तां त्वामुषर्वसूयवो गीर्भिः कण्वा अहूषत् ।। (ऋ. १.४९.४)

तू (व्युच्छन्ति हि) प्रकट होती हुई ही (रश्मिभिः) रश्मियों से (रोचनं विश्वं आ भासि) रोचक विश्व को जगमगाती है। (उषः) ! (तां त्वाम्) उस तुझे (वसूयवः कण्वाः) वसुकामी मेधावी जन (गीर्भिः) वाणियों से (अहूषत) आहूत किया करते हैं।

इस मन्त्र में उषा द्वारा अन्धकार को नष्ट करके उसके प्रकाशित होने के गुण की ओर व्युच्छन्ती पद से संकेत किया गया है। संसार का प्रत्येक प्राणी और पदार्थ प्रकाशोन्मुख है। भौतिक उषा भौतिक पदार्थों को प्रकाशित करती है। दिव्य उषा प्राणियों में दिव्य चेतना जगाती है। उषा का एक नाम विभावरी है। आभासि पद द्वारा उसके सब पदार्थों और प्राणियों को प्रकाश प्रदान करने के गुण को प्रकट किया गया है।

उषा से दिव्य चेतना प्राप्त करने का इच्छुक साधक यहां स्वयं को वसूयु और कण्व संज्ञा से अभिहित करता है। कण्व मेधावी को कहते हैं। कण्व या मेधावी कहकर साधक स्वयं को दिव्य उषा से संगमन करने के लिए सर्वथा उपयुक्त घोषित करता है। मेधृ (संगमने) धातु से निष्पन्न मेधा शब्द है। उषा से संगमन करके वह स्वयं को प्रकाशमान्—विवस्वान् या चिकित्वान् बनाना चाहता है। इसके लिए उसे प्रकाश-धन चाहिए। इस धन का इच्छुक होने से ही वह वसूयु है। वह अपनी योग्यता और आकांक्षा को व्यक्त करता हुआ वाणी से उस दिव्य उषा का आह्वान करता है, वैसे ही जैसे उसके समान योग्यता और आकांक्षा वाले अन्य जन करते हैं और करते रहे हैं। सबकी प्रकाशिका होने से दिव्य उषा उसे भी ज्ञान का प्रकाश प्रदान करके उसे दीप्तिमान् कर देगी।

☐

वायु : दिव्य-ओषधि

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्र ण आयूँषि तारिषत्।
उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि।
यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे।
(ऋ १०.१८६.१-३)

(नः हृदे) हमारे हृदय के लिए (भेषजम्) ओषधि के समान होकर (शम्भु, मयोभु) कल्याणकारी और सुखकारी (वातः) वायु (आ-वातु) बहे [और इस प्रकार] (नः आयूंषि) हमारी आयुओं का (प्र-तारिषत्) विस्तार करे।

(उत वात) और वायो ! तू (पिता असि) पालन करनेवाला है, (उत नः भ्राता असि) और हमारा धारण वा पोषण करनेवाला है, (उत नः सखा) तथा हमारा सखा है। (सः) वह तू (नः जीवातवे) हमारे जीवन के लिए (कृधि) [ओषधि सम्पादन] कर।

(वात) वायो ! (ते गृहे) तेरे गृह में (यत् अदः अमृतस्य निधिः हितः) जो वह अमृत की निधि रखी है, वह (ततः) वहाँ से (नः जीवसे देहि) हमारे जीवन के लिए दे।

(२)

वात शब्द वा (गतिगन्धनयोः) या वात (गतिसुखसेवनयोः) धातु से व्युत्पन्न है। इस शब्द का अर्थ है—गतियुक्त, गन्धयुक्त या सुखपूर्वक सेवन करने योग्य। इसका भौतिक रूप अन्तरिक्ष में वर्तमान है। यही शरीर में प्राणों के रूप में निवास करता है। ब्रह्माण्डस्थ भौतिक रूपवाला वायु गन्धवाही होकर शरीरस्थ प्राणों का पोषण किया करता है। स्पर्श तन्मात्रा से भौतिक वायु का विकास हुआ है। साथ ही वह रूप-रस और गन्ध तन्मात्राओं से विकसित अग्नि, जल और पृथिवी का आधार भी है। वही अग्निरूप होकर रूपनिर्माता, जलरूप होकर रसनिर्माता और पृथिवीरूप होकर गन्धनिर्माता बनता है। प्रत्येक भौतिक शरीर का आधार इसीलिए उसका तदाकार वायव्य रूप होता है। शरीर की जीवनावधि का आधार यही वायव्य शरीर है।

शरीर अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए प्रकृति से अन्न ग्रहण करता है। इसी तरह वायव्य शरीर अपने पोषण के लिए प्रकृति के विविध उपादानों से प्राणतत्त्व ग्रहण करता है। प्राणतत्त्व को धारण करनेवाले पदार्थ ओषधि कहलाते हैं। वनस्पतियों में प्राणतत्त्व अग्नि, जल और पृथिवी के सूक्ष्म अंश के रूप में होता है। पृथिवी का सूक्ष्म भाग गन्ध के रूप में वायु के साथ शरीर में जाकर वायव्य शरीर का पोषण करता है। पृथिवी का अंश जहाँ-जहाँ होगा वहीं से वह शरीर को प्राप्त होगा। वायु का काम गन्धवाही बनकर प्राणतत्त्व को वायव्य

शरीर तक पहुंचाना है। ऐसा करते हुए वायु ओषधि रूप हो जाता है।

वायु का आध्यात्मिक रूप प्राणाधार परमात्मा है जो शरीर में आनन्दमय कोश के रूप में विद्यमान रहता है। शरीर में वायु के भौतिक और आध्यात्मिक रूपों का एकत्र निवन्धन होता है। इस निबन्धनस्थल का नाम हृदय है। हृदय-ग्रन्थि टूट जाने पर वायु के इन रूपों की एकत्र स्थिति समाप्त हो जाती है और जीवनावधि समाप्त हो जाती है। सृष्टि-प्रक्रिया में हृदयग्रन्थि बार-बार टूटती और वँधती रहती है; परन्तु साधक परम मुक्ति की कामना करता हुआ अपनी जीवनावधि का विस्तार करना चाहता है ताकि परमायु की प्राप्ति करता हुआ वह परमतत्त्व में लीन हो जाए। इसके लिए वह भौतिक वायु को ओषधि के रूप में प्रयुक्त करना चाहता है, प्राणवायु को पुष्ट करना चाहता है और प्राणाधार परमात्मा से परमायु और अमृतत्व की प्राप्ति में सहायक होने के लिए प्रार्थना करता है। परमायु पाकर सुखलाभ करना और परमतत्त्व में लीन होकर आत्म कल्याण का आकांक्षी होना,—ये दोनों उद्देश्य साधक के सामने हैं। तदनुकूल ही वह वायु को शम्भु और मयोभु के रूप में सम्बोधन करता हुआ अपने उद्देश्य की सिद्धि में सहायक बनना चाहता है।

(३)

स्तोता प्रार्थना करता है, प्र ण आयूँषि तारिषत्, वह वायु हमारी जीवनावधि बढ़ावे। दीर्घजीवन की प्राप्ति जीवन के लक्ष्य की सिद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कोई व्यक्ति आज कोई शुभ सङ्कल्प करे और कल ही मर जाए तो उसका सङ्कल्प निरर्थक हो जाएगा। जीवन का उद्देश्य पाना हो तो दीर्घजीवन आवश्यक है। दीर्घजीवन की प्राप्ति संयत जीवन बिताने, ओषधि-सेवन करने और भगवत्कृपा प्राप्त करने से सम्भव है। साधक, इन मन्त्रों में, अपने वायव्य शरीर को सुपुष्ट बनाकर दीर्घजीवन-प्राप्ति के लिए कृतसंकल्प है। इसके लिए वह प्राणायाम करके प्राणों को संयत करना चाहता है, श्वास के साथ ग्रहण की जानेवाली वायु को ओषधि रूप में प्राप्त करना चाहता है, और प्राणाधार परमात्मा की कृपा अमृतत्व के रूप में पाना चाहता है। उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में वह अपने इसी मन्तव्य को प्रकट करता हुआ साधना में प्रवृत्त होता है।

(४)

वायुसूक्त के इन मन्त्रों का ऋषि उल है। उल शब्द गत्यर्थक उल धातु से व्युत्पन्न है और इसका अर्थ है, वायु के समान गतिशील या महाप्राण। इन मन्त्रों में ऐसा बनने के लिए प्रार्थना की गई है। इन मन्त्रों से प्राणचिकित्सा की ओर भी संकेत मिलता है। प्राणवायु की सहायता से रोगों को दूर करके आयु का विस्तार करना सम्भव है।

प्रथम मन्त्र में दीर्घायु की प्राप्ति के लिए श्वास के रूप में ग्रहण किए गए

या प्राणायाम में पूरक के रूप में लिए गए और कुम्भक के रूप में धारण किए हुए वायु को सम्बोधन करते हुए स्तोता कहता है कि वह वायु शरीर के लिए सुखकारी और जीवन के लिए कल्याणकारी बन जाए। वह ओषधि-रूप होकर प्राणों का पोषक बन जाए। वायव्य शरीर को सुपुष्ट बनाकर वह हृदयग्रन्थि को सुदृढ़ करे और इस प्रकार दीर्घायु-प्राप्ति में सहायक बने।

यद्यपि साधना का उद्देश्य हृदयग्रन्थि का भेदन करके परम तत्त्व में लीन होना होता है; परन्तु परम तत्त्व की अनुभूति प्राप्त किए बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है। इसलिए तब तक यह ग्रन्थि सुरक्षित रहे और जीवनावधि का विस्तार हो, यही यहाँ स्तोता का उद्देश्य है।

वायु के भौतिकरूप को ओषधि के रूप में परिणत करनेवाला प्राणाधार परमात्मा है। प्राणचिकित्सा में सफलता भी उसमें श्रद्धान्वित होने से ही मिलती है। इसलिए दूसरे मन्त्र में स्तोता उससे अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है। वह उसे पिता, भ्राता और सखा के रूप में स्वीकार करता हुआ जीवन के लिए वायु को सहायक बनाना चाहता है।

तीसरे मन्त्र में वायु-रूप परमेश्वर के घर का उल्लेख है। ब्रह्माण्ड और साधक का शरीर दोनों उसके घर हैं। शरीर और ब्रह्माण्ड में अमृत की निधि के रूप में वह रहता है। निःशेष अमृतत्व का धारक होने से वह निधि है। अमृतत्व की प्राप्ति ही से दीर्घजीवन सम्भव है। यह अमृतत्व अमृत की निधि से प्राप्त होता है। स्तोता प्रार्थना करता है कि उसे अमृत की निधि में से दीर्घायु-प्राप्ति के लिए अमृत मिले। आयुर्वेद में कुछ अमृत-ओषधियाँ प्रसिद्ध हैं। यहाँ साधक वायु को प्राणमयकोश की सुपुष्टि के लिए अमृत-ओषधि के रूप में प्रयुक्त करके दीर्घायु पाने के लिए प्रयत्नशील है। वह प्रार्थना करता है, 'हमारे हृदय को दृढ़ बनाते हुए सुखकर व कल्याणकारी वायु! ओषधिरूप में हमें प्राप्त होओ, और हमारी आयु को बढ़ाओ। परमेश्वर रूप में तू जीवनदात्री ओषधि बन। शरीर और ब्रह्माण्ड के घर में तू अमृत-निधि के रूप में निहित हो। जीवन-धारण के लिए अपने उसी रूप में से हमें अमृत दे।' □

सच्चा देवोपासक कौन ?

यज्ञेयज्ञे स मर्त्यो देवान्त्सपर्यति।
यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासात्येनान्। (ऋ १०.९३.२)

(यः दीर्घश्रुत्तमः) अत्यन्त दीर्घ काल तक शास्त्र श्रवण करके उनके तत्त्व को समझने वाला जो विद्वान् (सुम्नैः) सुख-साधनों द्वारा (एनान्) इन पार्थिव

प्राणियों को (आ विवासति) पूर्ण रूप से स्नेह या आश्रय प्रदान करता है अथवा उनकी सेवा करता है (स मर्त्यः) वह मनुष्य ही (यज्ञे-यज्ञे) प्रत्येक पवित्र व श्रेष्ठ कर्म में (देवान् सपर्यति) देवों की सपर्या करता है।

इस मन्त्र का द्रष्टा ऋषि पार्थ्य तान्व है। √प्रथ् और √तन् धातुओं का प्रयोग विस्तार अर्थ में होता है। अपने चिन्तन की सीमा का विस्तार करके प्राणिमात्र को अपनी आत्मीयता का विषय बनाने वाला पार्थ्य तान्व है। इस मन्त्र का विषय भी आत्मीयता का विस्तार है। मन्त्र में सच्ची देवोपासना का स्वरूप बतलाया गया है जो प्राणिमात्र की सेवा करके उन्हें सुख प्रदान करने के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकती।

कहते हैं आदम का बेटा अबु महान् मानवप्रेमी था। एक दिन उसने एक देवदूत देखा जो उन लोगों के नाम की सूची बना रहा था जो परमेश्वर को अत्यधिक प्यार करते थे। अबु ने कहा, 'श्रीमन्! यदि आप मनुष्यों को प्यार करने वालों की सूची बनावें तो उसमें मेरा नाम भी लिख लें।' देवदूत ने दूसरे दिन पुनः आकर यह सूची दिखाई जिसमें परमेश्वर को प्यार करने वालों के नाम लिखे हुए थे। अबु ने देखा कि उसका नाम उस सूची में प्रथम स्थान पर लिखा हुआ था। इस कथा से यह संकेत मिलता है कि मनुष्यों को प्यार करने वाला ही वस्तुतः ईश्वर को प्यार करता है। प्रस्तुत मन्त्र का भी यही भाव है।

मन्त्र में साधक का दीर्घश्रुत्तमः विशेषण आया है। अध्ययनशील, शास्त्राभ्यास में लीन व्यक्ति की संज्ञा बहुश्रुत है। उसी को यहाँ दीर्घश्रुत कहा गया है। दीर्घश्रुतों में श्रेष्ठ ही दीर्घश्रुत्तमः संज्ञा का अधिकारी है। शास्त्राभ्यास करके ज्ञान-संचय करने का उद्देश्य जीवन में ऐसा दृष्टिकोण बनाता है जिसके अनुसार कर्मशील बनकर साधक प्राणिमात्र के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करने लगे। साधक की दूसरी संज्ञा यहाँ मर्त्य (मरणशील) प्रयुक्त हुई है। इस विशेषण से जीवन की तुच्छता प्रमाणित होती है। सन्तों ने मानव शरीर को माटी का पुतला उचित ही कहा है। मर्त्य का भी यही भाव है। इतना तुच्छ होकर भी शास्त्राभ्यास से साधक देवताओं तक का प्रिय बन जाता है।

देवताओं का प्रिय बनने के लिए उनकी सपर्या करने की आवश्यकता होती है। सः मर्त्यः देवान् सपर्यति से इसी बात की ओर संकेत है। ऐसे कई भक्त मिलेंगे जो इष्टापूर्त द्वारा यज्ञ सम्पादित करके एकान्त में भगवद्विग्रह की सेवा करते दिखाई देंगे पर मन्त्र में ऐसी देवोपासना का उल्लेख नहीं है। इसमें तो यज्ञे-यज्ञे कहकर प्रत्येक श्रेष्ठ कर्म करते हुए कर्म के माध्यम से देव-सपर्या करने की ओर संकेत किया गया है। ऐसी सपर्या शास्त्राभ्यास करके तत्त्वचिन्तन करने पर ही की जा सकती है।

काम करने का फल सुखप्राप्ति के रूप में प्रकट होगा। काम करके मनुष्य स्वयं ही सुख पा ले, तो यह अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण होगा। बहुजनसुखाय, बहुजनहिताय कर्म का लक्ष्य होना चाहिए। बहुतों के सुख व हित के लिए काम करके सबके प्रति आत्मीयता प्रदर्शित करने का मार्ग ही मनुष्य को देवसेवा के सच्चे स्वरूप तक पहुंचाने का मार्ग है। पुराणों में उल्लेख मिलता है कि त्रेतायुग में साधक काम करते हुए देवताओं का प्रत्यक्षीकरण कर लिया करते थे। ऐसा करने की प्रेरणा उन्हें वेदों के ऐसे मन्त्रों से ही मिली होगी।

जो बहुश्रुतों में श्रेष्ठ विद्वान् सुख-सुविधाएँ प्रदान करके सभी मनुष्यों की—मनुष्यों की ही क्यों, सभी प्राणियों की—सेवा करता है, उन्हें आश्रय प्रदान करता है वही सच्चे रूप में देवताओं की परिचर्या करता है। सबको सुख देने के लिए वह जो काम करता है वे काम ही देव-परिचर्या के साधन हैं। मन-प्राण-वाक् के निबन्धनपूर्वक जो काम किए जाते हैं—अर्थात्, मन लगाकर, सम्पूर्ण शक्ति लगाकर और शरीर-साधनों का पूरी तरह उपयोग करते हुए जो पवित्र और श्रेष्ठ कर्म किए जाते हैं—उन्हीं की संज्ञा यज्ञ है। ऐसे प्रत्येक यज्ञ में देवताओं की परिचर्या होती है यदि वे प्राणिमात्र को सुख पहुंचाने के लिए किए जाएँ।

मन्त्र में प्रदर्शित विचारसूत्र ये हैं—

१ प्राणियों की हितकामना के लिए किया हुआ काम ही देवपूजा है।

२ तल्लीनतापूर्वक कर्मरत रहना ही देव-परिचर्या है।

३ निकम्मा देवसेवा का अधिकारी नहीं हो सकता।

संकट-विमोचन

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं वि चृता बन्धमेतम्।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम्॥

(यजुर्वेद १२.९३)

१ (नमः सु ते निः-ऋते !) नमन और सु तेरे लिए हे निर्ऋते !

२ (तिग्मतेजः एतम् अयस्मयं बन्धं वि-चृत) तीखे तेज वाले ! तू इस लोहमय बन्धन को काट।

३ यमेन यम्या सं-विदाना त्वं एनम् उत्-तमे नाके अधि-रोहय) यम और यमी के साथ संगत होते हुए तू इस[मानव] को सर्वोत्कृष्ट आनन्द धाम पर चढ़ा।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि यदि कहीं रोग है तो उसकी ओषधि भी वहीं-

कहीं आसपास है। इसी दृष्टि से जीवन में संकट है तो संकटमोचन भी सामने खड़ा मिलेगा। इसी दृष्टि से यहाँ निऋ̐ति को सम्बोधित किया गया है।

निऋ̐ति (निः-ऋति) का अर्थ है—ऋति से रहित, अनुकूलता के विरुद्ध, प्रतिकूलता, आपदा, दारुण दुःख। सज्जन पुरुष कामना करते हैं कि सभी सुखी हों, कोई दुःखभाक् न बने।

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ।।

लोग कहते है कि यदि संसार के एक तिहाई मनुष्य भी सबकी कल्याण-कामना करने लग जाएँ तो संसार के सब लोग एक साथ सुखी हो सकते हैं; पर इतने लोग एक साथ कल्याणकामना कहाँ करते हैं? इसलिए संसार दुःख का दरिया बन गया। दुःख तो आएँगे ही। व्यक्ति उनका सामना करने की शक्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना कर सकता है।

दुःख कभी-कभी इस तीव्रता के साथ आक्रमण करते हैं कि आदमी चौकड़ी भूल जाता है। किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। ऐसा लगने लगता है कि पहाड़ ही टूट पड़ा हो। सीधा सरल जीवन जीने वाले भी पाते हैं कि उनके सारे पुण्य क्षीण हो गए हों। धीरज उस समय भी धारण करना पड़ता है। सोचना पड़ता है कि पहाड़ पर भी आदमी ही चढ़ता है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था कि—

जितने कष्ट-कण्टकों में है जिनका जीवन-सुमन खिला।
गौरव-गन्ध उन्हें उतना ही यत्र-तत्र-सर्वत्र मिला ।।

सीता का पता लगाने के लिए दक्षिण में दल गया उसके सामने समुद्र आ गया। मन्त्रणा हुई। पता तो करना है। सफलता प्राप्त करना है। कौन पार करेगा सागर को? हनुमान हो गए तैयार। उनका शरीर 'कनकभूधराकार' हो गया। जितनी बड़ी आपदा, उसका सामना करने के लिए 'कनकभूधराकार शरीरा' होना ही था। साधारण क्षमता से साधारण आपदाएँ निवारित की जा सकती हैं। असाधारण आपदा को हटाने के लिए असाधारण क्षमता अर्जित करनी होती है।

मन्त्र में उस दारुण विपदा को ही सम्बोधित किया गया है—हे विपदे! तुमको नमन—नमः ते निऋ̐ते। और हे विपदे! तुम्हारे लिए सु—शोभन—अच्छा।'

आपदा की -कष्ट की दारुणता देखकर ही निर्णय लेना होगा कि साधक को कितना बड़ा हो जाना है। इतना बड़ा हो जाना है कि वह विपदा, वह अवरोध छोटा पड़ जाए। जब तक रोगी से रोग बड़ा रहेगा, रोगी रोग से पीड़ित रहेगा। रोगी रोग से बड़ा हुआ कि रोग भागा—उड़न छू हुआ।

महाभारतकार ने कहा है हि—

न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।

मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वह मनुष्य हर विपत्ति का सामना कर सकता है। वह मौत से दो-दो हाथ भी कर सकता है। तब विपत्तियों से, कष्टों से क्यों घबराने लगा ?

ममता के बन्धन अयस्मय होते हैं—लोहे की तरह मजबूत। और निर्ऋति का तेज ? बड़ा तीखा और चुभने वाला होता है। जब साधक अपनी पूरी लम्बाई के साथ स्थिति का सामना करने के लिए खड़ा हो जाए तो वह न केवल निःऋति से बन्धन काटने के लिए विनय कर सकता है, वह उसे आदेश भी दे सकता है। कष्ट तो आशंका और डर के मारे बढ़ते हैं। साहसपूर्वक खड़ा हो गया तो उसके समक्ष कोई विपत्ति नहीं ठहर सकती।

व्यक्ति साहस करके खड़ा हो जाए तो भी स्वयं को अकेला पाकर वह घबरा सकता है। इसलिए उसको कोई साथी चाहिए। दारुण कष्ट में पड़े हुए व्यक्ति के लिए साथी उसकी पत्नी हो सकती है। ऋग्वेद में यम-यमी सूक्त में पति-पत्नी का वार्तालाप है। यम का अर्थ है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन यमों का साधक। यमी यम की साधिका पत्नी। यम की साधिका बहिन भी हो तो उसका नाम यमा होगा। संयत जीवन जीने वाले पति-पत्नी साथ-साथ विपत्ति के दारुण कष्टों को भोगें तो उनके लिए वह संकट फूलों की सेज जैसा बन जाता है। कमजोर और डरपोक व्यक्ति संकटों से भागते हैं। साहसी सज्जन पुरुष उनका सामना करते हैं।

पति और पत्नी मिलकर कष्ट की दारुणता को सहन कर जाते हैं। एक दूसरे को ढाढस बँधाते रहते हैं। संकट तो साहस से टल जाते हैं; पर उनका सामना करने के लिए जो शक्ति अर्जित की, वह जीवन की धरोहर बन जाती है। वह कष्ट भी एक तरह से सिद्धि में सहायक बन जाता है। उन्नति का सोपान बन जाता है। गौरव-गन्ध का कारण बन जाता है।

सोने के पालने में झूलने वाले और दूध के कुल्ले करने वाले तो गरम हवा का झोंका आते ही चारों खाने चित्त हो जाते हैं।

विपत्ति में ममता के सब बन्धन टूट जाते हैं जिनको तोड़ने के लिए लम्बी-लम्बी साधना के उपरान्त भी सफलता नहीं मिलती। चक्रव्यूह में घिरा अभिमन्यु भूल गया था सबको। उसे ज्ञात था कि अकेले ही जूझना है। पर विरोधियों ने रिश्तों की याद दिला दी। वह भूल भूल गया कि युद्ध में किसी का विश्वास नहीं करना चाहिए। बस इसी भूल के कारण भटक गया और मारा गया।

विपत्तियों को, कष्टों को, अवरोधों को, कठिनाइयों को, समस्याओं को,

उलझनों को मित्र समझो, मित्र बना लो। वे जीवन के क्रम को तोड़ने के लिए नहीं होती। परीक्षा के लिए आती हैं। शक्तिवर्द्धन के लिए आती हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने दुष्टों की भी वन्दना की है सज्जनों के साथ। वे मिलने पर दारुण दुःख देते हैं तो सज्जन बिछुड़ने पर ऐसा दारुण दुःख देते हैं मानो प्राण ही हर लिए हों—

वन्दउँ सन्त असज्जन चरणा
दुःखप्रद उभय जाइ नहिं वरणा।
मिलत एक दारुण दुःख देही
बिछुरत एक प्राण हर लेही।

दोनों दुःखदायियों की वन्दना। वे दारुण दुःख देकर कल्याण ही करेंगे। दारुण दुःख कष्टकारक ही होता है; पर कष्टविमोचन की विधि और शक्ति भी उसी की देन है।

इसलिए दारुण विपदा से कहा गया है—संयम पति और संयमी पत्नी को संविद् करके उच्चतम आनन्द धाम में पहुंचा दे।

दारुण कष्टो! नमन तुम्हें है
स्वागत पूरा
तीक्ष्ण-तेज हो
ममता के बन्धन सब काटो
संयत पति-पत्नी को
जीवन में अपना स्वर्ग बनाने हित
ऊपर चढ़ने दो। □

ऋतयज्ञ : ऋतुयज्ञ

युवं दक्षं धृतव्रत मित्रावरुणा दूलभम्।
ऋतुनायज्ञम् आशाथे॥ ऋग्वेद १.१५.६

१ (धृतव्रतौ मित्रावरुणौ) व्रतधारी मित्र एवं वरुण (देवो!)

२ (युवं ऋतुना दक्षं दूलभं यज्ञं आशाथे) तुम दोनों ऋतु अनुसारी दक्षता-युक्त [और] दुर्दमनीय यज्ञ को सिद्ध करते हो।

यज्ञ में मेधातिथि का दर्शन है। मित्र और वरुण का आह्वान किया गया है क्योंकि यज्ञ को सिद्ध करने वाले ये ही देव हैं। मित्र आदित्य है। वरुण भी आदित्य है। मित्र हैं जीवन के देव मृत्यु से बचाने वाले—प्रमीतेः त्रायते। वरुण हैं आवरण करने वाले—आवरण बने आकाश और समुद्र के अधिदेवता। मित्र आग्नेय

देव हैं, वरुण सोमात्मक। अग्नि और सोम से ही यह जगत् बना है—अग्नीषोमात्मकं जगत्।

मित्र और वरुण सृष्टि-यज्ञ के संचालक हैं। वे यज्ञ सम्पन्न करते हैं ऋतु-अनुसारी, ऋतुओं से। यह यज्ञ दक्ष—दक्षता युक्त होता है और दूलभ (दुर्लभ)। वह जो किसी को सरलता से प्राप्त न हो, जिसको बलात् हस्तगत नहीं किया जा सकता। यज्ञ दान, पूजा और संगतिकरण युक्त कार्य होता है—श्रेष्ठ कार्य।

यह संसार एक यज्ञ है विराट्। इसे दक्षता की कसौटी मानकर सम्पन्न करते हैं मित्र और वरुण। इसकी प्रक्रिया ऋतु के अनुसार चलती है। वर्षा और शरद वरुण की ऋतुएँ हैं। मधुऋतु और ग्रीष्म मित्र की ऋतुएँ हैं। शिशिर और हेमन्त इनकी सहयोगिनी ऋतुएँ हैं।

यज्ञ सम्पन्न करने के लिए आशाथे क्रिया का प्रयोग हुआ है। आशा का प्रयोग दिशाओं के लिए होता है—सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। दिग्दिगन्त तक विस्तार देना—वितान करना ही आशाथे का गम्य अर्थ है। इस सृष्टि-यज्ञ के वितान को देखकर मेधातिथि अपने जीवन-यज्ञ का वितान करना चाहते हैं।

ऋग्वेद अर्चना का वेद है। अपने इष्ट देवता में जिन गुणों को साधक पाता है उनको अपने जीवन में उतार कर अर्चना करता है इष्ट देव की। उसका जीवन भी ऋतुओं में बँधा हुआ है। उस बद्ध जीवन को वह विस्तार देता है—फैलाता है। श्रेष्ठ कार्य करके फैलाता है जीवन को।

यज्ञ व्रत धारण करके सम्पन्न किया जाता है। यज्ञ कुशलतापूर्वक किया जाता है। यज्ञ दुर्दमनीय बनकर किया जाता है। यज्ञ का फल अपने लिए नहीं होता। सबके लिए होता है। जब उपलब्धि पर सबका अधिकार होगा तो उसमें अवरोध आ ही नहीं सकते। यज्ञ शेष ही अपना है। शेष उनको देना है जिनका उस पर अधिकार है। यह यज्ञ का दान है। यज्ञ में अर्चना होती है इष्टदेव के गुणों को अपने व्यक्तित्व में उतार कर। देवों को सखा बनाकर और समस्त प्राणियों का हित सम्पादित करके संगतिकरण किया जाता है।

यज्ञव्रती होकर जिस यज्ञ का वितान किया जाता है उससे अपने व्यक्तित्व को विकसित और पूर्ण किया जाता है। साथ ही सुन्दर समाज का निर्माण भी किया जाता है। खण्डित व्यक्ति और फूटा समाज कदापि काम्य नहीं हो सकता। ऋतु का यज्ञ ऋतु का यज्ञ होता है—उसमें सत्य को, दृढ़ता को, अखण्डता (Individuality Indivisibility) को धारण करना होता।

मित्रवरुण! दुर्लभ, दक्ष यज्ञव्रती तुम।
ऋतु से यजन करो।

५

यशोजीवी

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर् यशस्वान्, यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं, सर्वेषु यशसः स्याम ।। अथर्ववेद ६.५८.२

यथा इन्द्रः द्यावा-पृथिव्योः यशस्वान् यथा आपः ओषधीषु यशस्वतीः ।
एव विश्वेषु देवेषु वयम् सर्वेषु यशसः स्याम ।

१ (यथा इन्द्रः द्यावापृथिव्योः यशस्वान्) जैसे द्यौ और पृथिवी-लोक में सूर्य यशस्वी [है],

२ (यथा आपः ओषधीषु यशस्वतीः) जैसे जलप्रवाह ओषधियों-वनस्पतियों में यशस्विनी [है]

३ (एव विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम) वैसे ही सम्पूर्ण देवों में, दिव्यताओं में हम सब में यशस्वी हों ।

यश की चाह बड़ी बलवती है । यश प्राप्त करने के लिए लोग जीवन की बलि देने को तैयार हो जाते हैं । क्षत्रियों में यश की साधना को सर्वोपरि माना गया है । नित्यप्रति सन्ध्या-अग्निहोत्र के समय सत्य, यश और श्री की साधना के लिए प्रत्येक आस्थावान् साधक प्रार्थना करता है ।

सर्वेषु यशसः स्याम का अर्थ है सबमें—सत्य-साधक ब्राह्मणों में, यशः-साधक क्षत्रियों में, श्री-साधक वैश्यों में और इनका सहयोग करने वाले शूद्रों में हम यशस्वी हों—सबसे बढ़ कर ।

यशस्विता के दो दृष्टान्त हैं । प्रथम, यथा इन्द्र—सूर्य द्यौ और पृथिवी लोक में यशस्वी है । यशस्वी है—प्रकाश और ऊष्मा विकीर्ण करके । यशस्वी है जीवन-दाता बन कर । यश सर्वातिशायी गुण के कारण मिलता है । सूर्य गुणवान् है—इसलिए यशस्वी है ।

दूसरे, आपः—जलप्रवाह । इनका विकास होता है ओषधि और वनस्पति के रूप में । ओषधियों और वनस्पतियों में जलराशियाँ यशस्वती हैं । ओषधियाँ-वनस्पतियाँ रोगनाशक होती हैं, आयुवर्द्धक होती हैं । इस प्रकार जीवनदात्री होती हैं । ये ही उनके यशस्वती होने के लक्षण हैं ।

इनकी तरह मैं भी सबमें यशस्वान् बनूँ । समस्त दिव्यताओं का धारक बन कर देवों में भी यशस्वी बनूँ और मनुष्यों में भी ।

ज्यों यशस्वी सूर्य पृथिवी और द्यौ में
यशस्वी जलराशि ओषधि बीच जैसे;
दिव्यताओं देवताओं में सदा ज्यों
हम सभी के बीच हो जावें यशस्वी ।

प्रगतिशील बनो, विजयी बनो !

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ।। ऋ. १०.१०३.१३

प्र-इत	=	प्र-चल
जयत	=	जीत
नर	=	हे ऊत्पादक श्रमकर्ता मनुष्य !
इन्द्रः	=	ऐश्वर्यशाली परमात्मा
वः	=	तुमको
शर्म	=	मंगल
आ-यच्छतु	=	प्रदान करें।
उग्राः	=	उग्र
वः	=	तुम्हारी
सन्तु	=	हो
बाहवः	=	भुजाएँ
अन्+आ+धृष्या	=	न परास्त करने योग्य, दुर्धर्ष
यथा	=	जैसे
आसथ	=	हों।

वेद जीवन का संविधान है। वह उत्कृष्ट जीवन जीने की कला सिखाता है। इस मन्त्र में निरन्तर प्रगति करने और विजयी होने की प्रेरणा दी गई है। गति में विराम आया कि मृत्यु के जबड़ों में समाए। इसलिए चलते रहो—चरैवेति।

चलो, पर निरर्थक गति न हो। विजय-लाभ करते चलो। सार्थक जीवन जीते चलो। क्षण-क्षण का उपयोग करना सीखो। एक क्षण भी व्यर्थ न जाने पावे।

तुम नर हो, नेता हो। नेता प्र-नेता होता है। उत्पादक श्रम करने वाला होता है। न-र वह भी होता है जो विषयों में रमण नहीं करता। शरीर की सीमाओं और विवशताओं के ऊपर उठ कर आत्मा में रमण करने वाला—आत्माराम बनता है।

यदि गतिशील, जयी और आत्माराम बनोगे तो परम-प्रभु तुम्हारा मंगल करेगा। पुरुपार्थी और पुरुपार्थों का प्रेरक होता है वह।

कमर कस लो। भुजाएँ तान लो। तेवर तीखे कर लो। ऐसे बनो जैसे कभी, किसी से परास्त नहीं होना है—सदा-सर्वदा जयशील। तभी परम-प्रभु के बनोगे।

पथ-भ्रष्ट न हों

मा प्र गाम पथो वयं, मा यज्ञाद् इन्द्र ! सोमिनः ।
मान्तः स्थुर् नो अरातयः ।।
(ऋग्वेद १०.५७.१)

१ (वयं पथः मा प्र गाम) हम सब सन्मार्ग से विचलित न हों ।

२ (सोमिनः यज्ञात् मा [प्र गाम]) सोम के उपासक [हम] यज्ञ से न [विचलित हों] ।

२ (नः अन्तः अरातयः मा स्थुः) हमारे भीतर शत्रु स्थित न हों ।

अ-राति (न-राति) का अर्थ है—जो न देता हो । किसी व्यक्ति के पास जो कुछ होता है वह केवल उसी के प्रयत्नों की उपलब्धि नहीं होता । और लोगों का भी योगदान होता है । ऐसी स्थिति में लाभ मिलने पर पहला विचार उसके मन में यह आना चाहिए कि उस उपलब्धि को सबके साथ मिल-बांट कर कैसे भोगे । अ-राति उस पर एकाधिकार जमा कर बैठ जाता है । किसी को कुछ देना नहीं चाहता । यहां मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हमारे भीतर शत्रु स्थित न हों ।

भीतर के शत्रु की बात कही गई है । भीतर के शत्रु काम, क्रोध, लोभ हैं । इनकी सन्तानें भी हैं—मद, मोह, ईर्ष्या, द्वेप, मात्सर्य आदि । इनमें से कोई भी अराति भीतर—मन-बुद्धि में न रहे । काम, क्रोध और लोभ ही वे कारण हैं जो व्यक्ति को दूसरों का अधिकार देने से रोकते हैं । इसलिए इनका नियन्त्रण चाहिए । इनको वेद में अहि कहा गया है और इस अहि का नियन्त्रण ही अहिंसा है जिसे यमों में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है । अहिंसा का नामोल्लेख हुआ है; पर इसका अर्थ अहिसा के अतिरिक्त अन्य यम भी समझे जाने चाहिए । यमों को धारण करने से सभी शत्रु अन्तःकरण से विदा ले लेते हैं ।

अन्तःकरण में काम, क्रोध और लोभ—ये शत्रु न रहें—इसके साथ दो कामनाएँ और भी हैं—प्रथम, हम पथभ्रष्ट न हों और दूसरी, हम यज्ञ से विचलित न हों । यह तब हो जब हम सोमी बनें—सोमोपासक बनें । सोम चारित्रिक श्री का नाम है । अतः चरित्रवान् बनें । जिसका चरित्र सुरक्षित है वह सन्मार्गी है और श्रेष्ठ कर्मों का कर्ता—याजक है । ईशकृपा से यदि ये दोनों विशेषताएँ हैं तो यह भी सुनिश्चित है कि मन में कोई खोट नहीं होगी ।

सन्मार्गी और सुमार्गी प्रभु ही बनाता है । अन्तःकरण को निर्मल भी वही करता है ।

नहीं हों पथभ्रष्ट, इन्द्र ! सोमी यज्ञ से न ।
मन में अराति नहीं ।

६

विराट् बन

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां, प्रत्यङ् एनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः, स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज ।।

(अथर्ववेद ११.१.२२)

अभि-आ-वर्तस्व पशुभिः सह एनां, प्रत्यङ् एनां देवताभिः सह एधि ।
मा त्वा प्र-आपत् शपथः मा अभि-चारः, स्वे क्षेत्रे अन्-अमीवा वि-राज ।

१ (पशुभिः सह एनाम् अभि-आ-वर्तस्व) पशुओं के साथ तुम इसकी ओर आओ ।
२ (देवताभिः सह एनां प्रत्यङ् एधि) देवताओं के साथ इसके सामने रहो ।
३ (त्वा मा शपथः प्र-आपत्) तुझे न शपथ प्राप्त हो,
४ (मा अभि-चारः) न अभिचार [प्राप्त हो] ।
५ (स्वे क्षेत्रे अन्-अमीवा वि-राज) 'स्व' क्षेत्र में नीरोग वि-राज ।

इस मन्त्र के द्रष्टा ब्रह्मा हैं । ब्रह्म या ब्रह्मा का अर्थ है—वर्द्धनशील, बढ़ा हुआ, प्रगतिशील, विकासशील । मन्त्र में आदेशपरक स्वर में कहा गया है—वि-राज = विराजो, राजमान होओ, प्रकाशमान होओ, चमको । कहाँ चमको ? स्वे क्षेत्रे—अर्थात् आत्मा के क्षेत्र में, आत्मलोक में । आत्मा का क्षेत्र यह शरीर है । इस शरीर में आत्मा को प्रकाशित करके जीवन को सार्थक बनाओ । प्रकाशित होओ, अन्-अमीवा अर्थात् नीरोग होकर । रोग शरीर में होता है । शरीर आत्म-मन्दिर होता है । वह रुग्ण होगा तो ज्योतिर्मय आत्मा का आविर्भाव होगा ही नहीं । इसलिए नीरोग होकर विराजो ।

अभि-आ-वर्तस्व का अर्थ है—की ओर आवर्तन करो । फिर फिर कर प्राप्त होओ । कैसे ? पशुओं के साथ । मनुष्य के मन में अनेक पशु पलते रहते हैं । उन पशुओं पर विजय पाना होता है । इसलिए पशु-विजय का स्मरण करते रहने के लिए यज्ञ में यूप से पशु को बाँधा जाता है । 'यूप' का अर्थ है—जोड़ना और पालन करना । गो, अश्व आदि पशुओं की यूप में बाँधकर पूजा की जाती है । उनकी रक्षा की जाती है । पशु को मारने की बात एक सीमा तक सही है और दूसरी सीमा तक गलत । जो पशु यूप से बँधा है—उनकी सुरक्षा और वह जिस शरीरस्थ पशु का प्रतीक है उसका विनाश—इस तरह सुरक्षा और विनाश का संगतिकरण यज्ञ है ।

अपने भीतर के पशु को पहचानो और उसको समाप्त करने के लिए बार-बार प्रयत्न करते रहो । इससे देवत्व का विकास होगा । इसलिए कहा गया है कि देवताओं के साथ सामने आओ । अपनी दिव्यता विकसित करके प्रकट होओ ।

इससे दो काम होंगे—एक तो किसी का शाप साधक तक नहीं पहुंचेगा और न कोई अभिचार-क्रिया (मारक-क्रिया) । शाप और अभिचार से मुक्त होकर अपने क्षेत्र में साधक नीरोग होकर, निर्भय होकर विराजमान हो सकता है ।

पशुता को बार-बार मारते रहो
दिव्यता को कर प्रकट धारते रहो
शाप-अभिचार से डरो नहीं कभी
स्व क्षेत्र में नीरोग बन विराजते रहो।

आयु-वृद्धि

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति, यथर्तव ऋतुभिर् यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वम् अपरो जहाति, एवा धातः आयूंषि कल्पयैषाम्॥
यथा अहानि अनु-पूर्वम् भवन्ति यथा ऋतवः ऋतुभिः यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वम् अपरो जहाति, एव धातः आयूंषि कल्पय एषाम्॥

१ (यथा अहानि अनुपूर्वं भवन्ति) जैसे दिन एक के बाद एक—क्रमशः होते हैं,
२ (यथा ऋतवः ऋतुभिः साकं यन्ति) जैसे ऋतुएँ ऋतुओं के साथ आ [जाती] हैं,
३ (यथा अपरः पूर्वं न जहाति) जैसे पीछे वाला पूर्ववर्ती को नहीं छोड़ता है
४ (एव धातः! एषां आयूंषि कल्पयत) उसी तरह हे धाता! इनकी आयुओं की वृद्धि करो।

मन्त्र में विश्वप्रपंच के धारक धाता से साधक प्रार्थना करता है कि आयु कल्पित करो, आयु का निर्माण करो, आयु को बढ़ाओ। कैसे बढ़ाओ? जैसे पूर्व अपर से पृथक् नहीं होता उस तरह बढ़ाओ। आयु का सूत्र कहीं खण्डित न हो, बराबर नैरन्तर्य बना रहे—इस तरह आयु को बढ़ाओ।

इस नैरन्तर्य के उदाहरण हैं दिन और ऋतुएँ। एक दिन के बाद दूसरा दिन; दूसरे के बाद तीसरा—यह क्रम चलता रहता है। आनुवर्ती व्यवस्था होती है। इसी तरह ऋतुएँ ऋतुओं के साथ—एक के बाद दूसरी आती जाती है। इसी तरह का क्रम पूर्णायु पर्यन्त चले।

'पूर्व को अपर नहीं छोड़ता'—का अर्थ यह भी है कि आयु के साथ पूरा युग आगे बढ़ता है। नए दिन के साथ नई सभ्यता और संस्कृति की शुरुआत नहीं होती। जो पूर्व में सुन्दरतम था वह नया-नया होता चले—नवो नवो भवति जायमानः। नया-नया होता है तो उसमें सुन्दरता और निखार अधिक से अधिक बढ़ते रहते हैं।

आयु बढ़ने के साथ-साथ जीवन में शिथिलता और जड़ता बढ़ने लगती है। यह जीवन का लक्षण नहीं है। जीवन में नित्य-नवीनता का संचार होना चाहिए। हर क्षण संस्कार और निखार पैदा होता चले तब जीवन की सार्थकता है।

ज्यों दिन, दिन के बाद, यथा ऋतुओं के साथ ऋतु।
अपर नहीं पूर्व को छोड़ता, धातः! त्यों आयु को बढ़ा।

सूर्य से स्वस्ति

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु, स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सु-भूतं सु-विदत्रं नो अस्तु, ज्योक् एव दृशेम सूर्यम् ।।

(अथर्ववेद १.३१.४)

स्वस्ति मात्रे उत पित्रे नः अस्तु, स्वस्ति गोभ्यः जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सु-भूतं सु-विदत्रं नः अस्तु, ज्योक् एव दृशेम सूर्यम् ।।

१ (नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति अस्तु) हमारे माता और पिता के लिए सु-अस्ति हो—सुन्दर स्थिति हो।

२ (गोभ्यः जगते पुरुषेभ्यः) गौओं के लिए, जगत् के लिए और पुरुषों के लिए [स्वस्ति—सुन्दर स्थिति हो]।

३ (नः विश्वं सुभूतं विदत्रम् अस्तु) हमारा विश्व सुन्दर-सम्पन्न [और] सु-विद्या युक्त हो।

४ (ज्योक् एव सूर्यम् दृशेम) [हम] लम्बे समय तक सूर्य को देखें—देखते रहें।

इस मन्त्र में सुन्दर संसार की रचना करने के विषय में चिन्तन है। संसार या जगत् के विषय में भारतीयों की विशिष्ट कल्पना है, धारणा है; वह यह कि विश्व का मानव-समुदाय पारिवारिक भाव से जुड़ा हुआ है। यह एक है। अखण्ड मानव समाज है। भारतीय समाज भी उस एक परिवार का अभिन्न अङ्ग है।

समाज की आवश्यकताएँ व्यक्ति और व्यक्ति को जोड़े रखती हैं, उनको एक दूसरे का पूरक बनाती हैं। उससे सम्बन्ध बनते हैं। भारत का इतिहास तो वस्तुतः मानवीय सम्बन्धों का इतिहास है। जितने सम्बन्धों की कल्पना भारत में की गई है उतनी संसार में कहीं भी नहीं की गई है।

मन्त्र के प्रथम अंश में माता और पिता के लिए मंगलकामना की गई है। वस्तुतः उपलक्षणा से माता-पिता नाम लेकर सारे मानवीय सम्बन्धों को मंगल-भावना से अनुप्राणित करने की भावना व्यक्त की गई है। आगे गो, जगत् और पुरुष के प्रति मंगलभाव व्यक्त किए गए हैं। इन नामों से यह मान लेना चाहिए मनुष्य समुदाय और मनुष्येतर प्राणिमात्र के सहित सबके लिए मंगलकामना व्यक्त की गई है।

जहाँ मंगलकारी मति होगी, मंगलकारी कार्य-परम्परा होगी, मंगलकारी सोच होगी, मंगलकारी अध्यवसाय होगा—वहाँ कभी मनमानी नहीं होगी, उच्छृंखलता निःशेष हो जाएगी।

अमंगल का नाश होगा तब शिवत्व का प्रसार होगा। विश्व को सुभूत और सुविदत्र बनाना है अपने प्रयत्नों से। जीवन को सुधारें तो जगत् सुधरेगा। जीवन

और जगत् इस तरह एक-दूसरे के सहयोगी हैं। इनको जोड़ें। विश्व सु-भूत हो—सुन्दर स्थिति वाला हो, सुन्दर भावना वाला हो। वह सुन्दर जाना-माना—जाना-पहचाना हो।

सुन्दर धारणा से व्यक्ति अपने आपको सुधारेगा। 'सु-धार' का अर्थ ही—सुन्दर धारणा है। सुन्दर भावनाएँ हों। कलुषित भावनाओं से मुक्ति मिले। निर्मलता का प्रसार—विस्तार हो। सुन्दर व्यक्तित्व के विकास के अनुकूल होना चाहिए जगत्। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी धारणा के अनुसार विकास कर सके। ऐसा हो संसार।

व्यक्तित्व विकास का एक उपाय है—अपने सामने एक मानक—Model रख ले और उसके अनुसार स्वयं को ढाल ले। मन्त्र में यहाँ सूर्य को मानक या आदर्श या पथदर्शी माना है। कामना की गई है—'सूर्यम् दृशेम' अर्थात् सूर्य को देखें। कब? 'ज्योक् एव?—सदा-सदा, चिरकाल तक, दीर्घकाल तक।

सूर्य को देखने से क्या होगा? उसका कल्याणकारी स्वरूप ध्यान में आएगा। वह प्रकाश और ऊर्जा प्रदान करता है। उसमें नवीन पदार्थों को सर्जित करने की क्षमता है। अन्धकार में सौ वर्ष तक बीज दबा पड़ा रहता है; पर सूर्य का प्रकाश मिलते ही वह बीज अंकुरित हो जाता है। सूर्य की प्रसवन करने की क्षमता असीम है। सूर्य से बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

सूर्य अपने लिए कुछ भी नहीं करता। उसका प्रकाश दूसरों को मार्ग प्रदर्शन करने के लिए होता है। उसकी ऊर्जा सभी को शक्ति प्रदान करने के लिए होती है। जिसका जीवन स्वार्थ से संकुचित नहीं है उसमें शक्ति का अजस्र स्रोत विकसित हो जाता है।

सूर्य बनो। शक्ति के अजस्र स्रोत अपने भीतर प्रकट करो। आत्मा सूर्य से अधिक प्रकाशवान् है, अधिक चेतनावान् है, अधिक ऊर्जस्वी है। वह शरीर में सोया हुआ है—खोया हुआ है। शरीर—पुरी में शयन करने के कारण ही वह पुरुष है। उसको साधना द्वारा प्रकट करो। होना—अस्तित्व में आना सार्थक हो जाएगा। तुम सुभूत बनोगे तो सारा संसार सुभूत हो जाएगा। तुम सुविदत्र बनोगे तो सारा संसार सुज्ञानी बन जाएगा।

आत्मविकास से जीवन सार्थक होगा—जीवनदाता माता और पिता गर्व करेंगे। उनका कल्याण होगा। सारे मानवीय सम्बन्ध सार्थक और मंगलकारी हो जाएँगे। अन्ध प्रकृति भी कल्याणमयी हो जाएगी और इसका द्रष्टा पुरुष भी कल्याणवर्धक बनेगा। शरीर में इन्द्रियों का व्यापार भी मंगलमय होगा और पृथिवी पर सभी पदार्थ भी अपने अस्तित्व को प्रमाणित कर रहे होंगे।

स्वस्ति पिता-माता की, गो की, जगत्-पुरुष की।
विश्व सुभूत सुमति से प्रेरित, देखे सूर्य बना कर मानक। ◼

आत्मप्रकाशन

नू मर्तो दयते सनिष्यन्, यो विष्णव उरुगायाय दाशत् ।
प्र यः सत्राचा मनसा यजात, एतावन्तं नर्यम् आ-विवासात् ।

(ऋग्वेद ७.१००.१)

नु मर्तः दयते सनिष्यन्, यः विष्णवे उरु-गायाय दाशत् ।
प्र यः सत्राचा मनसा यजाते, एतावन्तं नर्यम् आ-विवासात् ।

१ (नु मर्तः एतावन्तं नर्यं आ-विवासात्) शीघ्र वह मरणशील—मानव इतने नर्य—नर समूह को पूरी तरह से प्रकाशित करे,

२ (यः सनिष्यन् दयते) जो त्यागने की कामना से प्रिय करता है ।

३ (यः उरुगायाय विष्णवे दाशत्)जो बहु-गीयमान विष्णु के लिए समर्पित होवे—आत्मनिवेदन करे ।

४ (यः सत्राचा मनसा प्र-यजाते) जो यज्ञकर्मरत होने की इच्छा से प्रकृष्ट यज्ञ करता है ।

√वस् धातु आच्छादन के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त होती है । यहाँ प्रकाशन अर्थ वाली √वस् धातु का प्रयोग हुआ है । व्यक्ति आत्मप्रकाशन के लिए निरन्तर उत्सुक और प्रयत्नरत रहता है । मनुष्य अपनी सीमा जानता है कि वह मर्त्य है—मरणधर्मा है । पर अपने विवेक से यह भी जानता है कि वह शरीर से मरणधर्मा है जबकि आत्मा से वह अमृतपुत्र है । उसमें स्वयं को प्रकाशित करने की क्षमता भी है और अन्यों को प्रकाशित करने की क्षमता भी है । इसलिए अपने विवेक से वह प्रयत्न करता है कि इतने अर्थात् बहुत सारे नरों के समूह को प्रकाशित करने के लिए स्वयं प्रकाशित हो । पहले अपने आत्मा को प्रकाशित करे और तब अपने आत्म-प्रकाश से दूसरों को आत्म-प्रकाशन के लिए प्रेरित करे ।

मनुष्य विवस्वान्—पुत्र मनु की सन्तान है । विवस्वान् वह है जो विशेष रूप से प्रकाशित हुआ हो । उसकी सन्तान प्रकाशधर्मिता को ही प्रकट करेगी । यह आत्मप्रकाशन और सर्वप्रकाशन का काम तीन तरह से कर सकता है—

प्रथमतः, त्यागशील बनकर सबको यथेच्छ वस्तु प्रदान कर इस तरह प्रेम-भाव प्रकट करे ।

द्वितीयतः, विष्णु की आराधना करे । विष्णु अतिशय गतिशील है और अपने पराक्रम के कारण बहुतों द्वारा स्तुत होता है । उसके प्रति स्वयं को समर्पित कर दे—आत्मनिवेदन भक्ति अपनाने का अभ्यास करे ।

तृतीयतः, यज्ञ-प्रवर्तन करे । यज्ञ प्रवर्तन करने की इच्छा से उत्कृष्ट कोटि

का यज्ञ सम्पन्न करे। यज्ञ में जिस इष्टदेव की उपासना की जाएगी—यज्ञकर्ता यजमान श्रद्धाभाव से उसी का प्रतिरूप हो जाएगा।

इनमें से एक या तीनों उपायों को अपना कर साधक नश्वर होते हुए स्वयं राजमान—प्रकाशमान रूप में प्रकट होता है और पूरे नर समूह को प्रकाशमान बनने का मार्ग दिखाता है—अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करता है।

मर्त्य हो चाहे, करो सबको प्रकाशित,
त्याग का सङ्कल्प लेकर, प्रीति का विस्तार कर।
बहु प्रशंसित विष्णु के विक्रम सराहो हो समर्पित,
यजन कर उत्कृष्ट होकर यज्ञकामी।

तीन दिव्यताएँ

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर् मयोभुवः।
र्बाहः सीदन्तु अस्रिधः ॥

१ (इळा सरस्वती मही—तिस्रः देवी मयोभुवः) जन्मभूमि, वाग्देवी और भारती [संस्कृति] देवी सुखदान [करने वाली हो]।

२ (अस्रिधः र्बाहि सीदन्तु) अनवरत [यज्ञवेदी के पास बिछे] दर्भ[-आसन] पर बैठें।

यह ऋग्वेद का मन्त्र है। इसमें तीन देवियों की स्तुति की गई है। वे देवियाँ हैं—इळा, सरस्वती और मही। अन्यत्र मही का नाम भारती मिलता है। ये तीनों देवियाँ सुखकारिणी हैं। इनसे प्रार्थना की गई है कि ये वरदमुद्रा में यज्ञ में आसन पर विराजें। 'र्बाहः' कुशा को कहते हैं। यज्ञ में कुशासन बिछाया जाता है जिस पर इष्ट देवता को आहूत करके प्रतिष्ठित किया जाता है। उसी आसन पर तीनों इष्ट देवियों को आसीन होने के लिए निवेदन किया गया है।

इळा पृथिवी का, मातृभूमि का नाम है। अपनी धरती की रक्षा के लिए हमारे पूर्वज सदैव संनद्ध रहे हैं। महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण ने कहा है—

इळा न देवी आपणी, हालरिये हुलराय।
पूत सिखावै पालणै, मरण बड़ाई माय।:

अपनी भूमि किसी को नहीं देनी चाहिए—इस बात को माताएँ बचपन में लोरी देती हुई सिखाया करती हैं। वे पालने में झुलाती हुई मृत्यु का भय दूर भगा दिया करती हैं। यदि ऐसा न करे तो मातृभूमि पर शीश चढ़ाने वालों को प्रेरणा कैसे मिले?

माताएँ बालकों में मातृचेतना जगाती हैं। संस्कार पैदा करती हैं। स्वा-

भाविक है कि माता को सर्वोच्च स्थान दिया जाए। माताएँ अनेक हो सकती हैं; पर जननी एक ही होती है। उसको जन्मभूमि के समान गरीयसी माना गया है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी। (वाल्मीकि)

वेद में भी इळा को—पृथ्वी को प्रथम स्थान दिया गया है क्योंकि वह जननी से अभिन्न है—जननी के समान है।

सरस्वती ज्ञान की देवी है। उसकी प्रेरणा से ही मानव मन में ज्ञान का प्रवाह उमड़ता है। वह वाणी की अधिष्ठात्री देवी है। सारा संसार वाङ्मय है—यह मान्यता चली आती है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब वाणी में पद रूप में विद्यमान हैं। ब्रह्मा की सृष्टि के समान सृष्टि है वाग्देवी की। इसलिए सरस्वती का ब्रह्मा के साथ तादात्म्य भाव का सम्बन्ध माना गया है।

मही का सम्न्ध यज्ञ से है। उसे भारती भी कहा गया है। भारत देश की महामनीषा ही मही है। सुसंस्कृत होने से उसे संस्कृति कहा गया है। वह महीयसी है। मातृकल्पा है। उसको व्यक्त करने वाली संस्कृत भाषा को भी माता कहा गया है। वेदवाणी को वेदमाता कहा जाता है।

मातृभूमि, वेदमाता सरस्वती और संस्कृति—ये तीनों माताएँ आएँ और यज्ञवेदि पर बिछे दर्भासन पर विराजें। यज्ञ तथा अन्य सब धर्मों का साधन यह शरीर है। यह शरीर साधन भी है और यज्ञवेदि भी यही है। इसमें मातृभूमि, वाग्देवी और विश्ववरणीय संस्कृति विराजें। इसका तात्पर्य यह है कि इस शरीर में इन तीनों की समुचित प्रतिष्ठा हो। ये जीवन की प्रेरणादात्री बनें।

मातृभूमि से अनुप्राणित होकर साधक परिश्रम करे—कृषि कर्म करके उत्पादन करे। शरीर धारण करने के लिए अन्न चाहिए। अन्न उत्पादन कृषि से ही हो सकता है। कृषि को सर्वोत्तम कर्म माना गया है।

जीवन में सरस्वती की उपासना करें। ज्ञान और ज्ञान की वाहिनी भाषा की साधना से यह कार्य सिद्ध होगा। विचार और विवेक का उपयोग सरस्वती की कृपा से ही सम्भव है।

व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में रहना है। इसलिए उसे सामाजिक जीवन-प्रणाली अपनाने का अभ्यास करना है। संस्कृति इसका साधन है।

इन तीनों देवियों को जीवन में धारण करने से प्रशस्त जीवन-परम्पका का विकास होता है। यह सुख के साधन जुटाने का उपाय है। मनुष्य कर्मशील बने, ज्ञान और वाक्कुशल बने तथा वह सुसंस्कृत सामाजिक प्राणी बने। विकसित व्यक्तित्व सम्पन्न भी हो और सामाजिक सामञ्जस्य भी उसके जीवन का अङ्ग बने।

इळा सरस्वती मही
तीनों देवी सुखकरी
बैठें आ इस देह में ॥

अशरण - शरण

यो नः स्वो अरणो, यश्च निष्टयो जिघांसति ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु, ब्रह्म वर्म ममान्तरम् । (ऋग्वेद ६.७५.१९)

य: न: स्व: अरणो य: च निष्टय: जिघांसति ।
देवा: तं सर्वे धूर्वन्तु, ब्रह्म वर्म मम-अन्तरम् ।

१ (य: न: स्व: अरण:) जो हमारे लिए आत्मीय [अतएव सुखदायक हो] तथा जो पराया—दूर का हो

२ (य: च निष्टय: जिघांसति) जो घटिया [स्तर का] हो [और], हमें मारना चाहता हो

३ (तं सर्वे देवा: धूर्वन्तु) उसको सब देव विनष्ट करें ।

४ (मम अन्तरं ब्रह्म वर्म) मेरे भीतर ब्रह्म कवच है ।

यह पायु भारद्वाज ऋषि-दृष्ट मन्त्र है । √पा—रक्षणे धातु से बने हुए इस शब्द का अर्थ है—जो रक्षा करने वाला या रक्षा चाहने वाला हो । सुरक्षित व संरक्षित को भी पायु कहा जाता है ।

मन्त्र के उत्तर चरण में कहा गया है—मेरे भीतर ब्रह्म का कवच है । कवच वीरपुरुष की युद्धभूमि में अकस्मात्—प्रहार से रक्षा करता है । ब्रह्म विकास की, उन्नति की, मूलशक्ति—बीज शक्ति (अथवा शक्ति-बीज कहना अधिक उपयुक्त होगा । सीधे और सरल चित्त व्यक्ति जानते हैं कि जिसका कोई सहारा नहीं होता उसका केवल परमात्मा होता है । सवका सहारा संरक्षक परम ब्रह्म है । वह कवच वन कर सबके भीतर—हृदय में बैठा हुआ है । इसलिए साधक निश्चिन्त है ।

वह कहता है कि कुछ अपने लोग सुख देते हैं; पर अपनों में से ही कुछ अरण—अप्रीतिकर कार्य करने वाले होते हैं । वे परायों से भी अधिक दूर के हो जाते हैं । वे नीचतापूर्ण कार्य करते हुए हमें मारने को उतारू रहते हैं; पर उनकी क्या परवाह ?

अकारण शत्रुता पालने वाले दुष्ट लोगों को सारे देवता मिल कर मारें । अशरण की शरण परमात्मा है । सारी देवशक्तियां उसी की हैं । उससे प्रेरित होकर काम करती हैं । वे सब मिलकर उस शत्रु को सवक सिखावें ।

मेरे भीतर तो ब्रह्म कवच है । कवच वैसे शरीर के भीतर होता है । वह आकस्मिक प्रहार से बचाव करता है । पर भीतर जो ब्रह्म कवच है वह अधिक काम का है । वह बाहरी आक्रमण से तो रक्षा करता ही है ; भीतर के शत्रुओं से भी बचाता है । मनुष्य के भीतर अनेक अवांछनीय शत्रु पलते रहते हैं । वे अवसर पाकर

मनुष्य की शक्ति क्षीण कर देते हैं और सुमति को नष्ट कर देते हैं। सुमति नष्ट हुई कि विपत्तियाँ आईं।

जहाँ सुमति तहं सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहं विपत्ति-निधाना।

ब्रह्म कवच सुमति को बढ़ाता है। कुमति को नष्ट करता है। कुमति की जनक दुष्ट प्रवृत्तियों को नष्ट करता है। उनका प्रभाव इस कवच पर नहीं पड़ता। इस कवच के रहते साधक आत्मविश्वासपूर्वक बाहर और भीतर के शत्रुओं के आक्रमण से बचा रहता है।

जो हैं अपने प्रीतिकर, जो अप्रीतिकर अन्य।
उनसे रक्षा करे यह ब्रह्मकवच तज्जन्य ॥

७

अमृत - पुत्रों की साध

उप नः सूनवो गिरः, श्रृण्वन्त्व् अमृतस्य ये।
सुमृडीका भवन्तु नः। (ऋग्वेद ६.५२.९)

उप नः सूनवः गिरः श्रृण्वन्तु अमृतस्य ये। सुमृडीका भवन्तु नः

१ (ये अ-मृतस्य सूनवः) जो अमृत पुत्र

२ (नः गिरः उप श्रृण्वन्तु) [वे] हमारी वाणियों को सुनें।

३ (नः सु-मृडीका भवन्तु) हमको शुभ-सुखदायी हों।

यह भरद्वाज का दर्शन है। साधक मनुष्यों को मरणधर्मा नहीं मानता। उनको अमृत-पुत्र (अमृतस्य सूनवः) कहता है। भगवान् बुद्ध ने भी अपने प्रथम उपदेश में श्रोताओं को 'अमृतपुत्रो' ! कहकर सम्बोधित किया था। मनुष्य का शरीर पंचभूतों से बना हुआ है। यह नश्वर है। पैदा होना—बनना और मृत्यु को प्राप्त होकर मिट जाना इसका सहज स्वभाव है। पर, शरीर में आत्मा का वास भी है। वस्तुतः शरीर आत्मदेवता का मन्दिर है। आत्मा का न जन्म होता है, न मृत्यु।

शरीर के सांनिध्य से जब जीवात्मा अनुभव करने लगता है कि वह जन्म ले रहा है, मर रहा है अथवा रुग्ण हो रहा है तो आत्मा के अस्तित्व के कारण शरीर और शरीरधारी अमृतत्व को क्यों न अनुभव करें। इसी दृष्टि से शरीरधारी मानवों को अमृतपुत्र कहा गया है। विश्व के सारे मानव—अमृतपुत्र सुनें। सुनने से ही प्रथम सम्पर्क बनता है। फिर दर्शन से उसमें घनिष्ठता आती आती है। स्पर्श से आत्मीयता और बढ़ जाती है।

अमृतपुत्र विश्वदेवगण भी हैं जो पिण्ड और ब्रह्माण्ड को अधिष्ठान बनाकर उनको अस्तित्ववान् बनाते हैं। सम्बोधन उनको भी है। वे सुने हमारे लिए

सु-गृडीक—सुन्दर सुखदायक हों। सुख किस बात का मिलेगा? आत्मीयता का भाव उत्पन्न होने से। अनेक-अनेक सम्बन्धों के रूप में पहचान बना लेने से, साथ-साथ चलने से, मिल बैठ कर वार्तालाप करने से, एक-दूसरे के मन की बात समझने से—सुख मिलेगा।

मनुष्य में साथ-साथ रहने की सहजात प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्ति के कारण ही परिवार, समाज और राष्ट्र बनते हैं। उसी के कारण सम्पूर्ण विश्व एक परिवार की भावना में ढलता है। उसको मन्त्र में अनुभूति का विषय बनाया गया है। आत्मीयता का सुख सबसे बड़ा सुख है। सारे उत्सव, पर्व, समारोह इस सुख की अनुभूति में कारण बनते हैं। इसकी चाह मन में जागे तब कोई व्यक्ति अकेला नहीं रह जाता। वह सम्बन्धों में बँध जाता है। परिवार और समाज में ढल जाता है। श्रेष्ठ समाज का विकास करने के लिए इस प्रकार की आत्मीयता की खोज और स्थापना आवश्यक है।

वाणी को सुनें वे सब
अमरता के पूत जो
हों हमको सुखकर।

4

गुणकीर्तन का संकल्प

तत् सु नो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः।
वृबुं सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमम् ।। (ऋग्वेद ६.४५.३३)

तत् सु नः विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः। वृबुं सहस्रदा-तमम् सूरिं सहस्र-सातमम्।

१ (सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमम्) हजारों तरह से धन देने वाले, बुद्धिमान्—विद्वान् और सहस्रों दान करने वाले

२ (तत् वृबुं नः विश्वे अर्यः कारवः) उस शिल्पी का हमारे सब श्रेष्ठ कारुगण

३ (सदा सु आ गृणन्ति) सर्वदा अच्छी तरह से और पूरी तरह से वर्णन करते हैं बखान करते हैं।

शंयु बार्हस्पत्य द्वारा दृष्ट इस मन्त्र में परम प्रभु की अपरिमित दाता के रूप में स्तुति की गई है। उसके चार विशेषण मन्त्र में आए हैं। पहला विशेषण 'सूरि' है जिसका अर्थ है—बुद्धिमान्-विद्वान्। परम प्रभु संसार के सब विद्वानों—बुद्धिमानों में शिरोमणि है। यों कहें कि वह बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता का प्रेरणा-स्रोत है।

उसका दूसरा विशेषण वृबु है। वृबु का अर्थ है विराट्—फैला हुआ, बढ़ा हुआ। वह सबसे अधिक बढ़ा हुआ है। ब्रह्म शब्द का भी लगभग यही अर्थ होता है। वह वृद्धियों का—विस्तार का प्रेरक भी है।

उसको 'सहस्रदातमम्' कहा गया है। अर्थ है—हजारों-हजारों तरह से धन देने वाला। कहा गया है कि प्रभु जब देता है तो छप्पर फाड़ कर देता है। बिना किसी अवरोधक के—अपरिमित देता है। उसका लोक में एक प्रिय नाम प्रचलित हो गया है—दातार। दाता का बहुवचन 'दातारः' होता है। दातार उसी का लोक प्रयुक्त रूप है। अपरिमित देने वाला होने से उसे बहुवचन में स्मरण किया गया है। उसमें अनेकानेक दाताओं को पीछे छोड़ देने की क्षमता है। सर्वातिशायी दाता कहा जा सकता है उसे।

'सहस्रसातमम्' का अर्थ भी दाता है; पर यह शब्द सहस्रों प्रकार से और सहस्रों प्रकार की क्षमताओं का प्रदाता भी है। धन का दान तो स्थूल दान है; पर क्षमताएँ प्रदान करने की क्षमता परमप्रभु में ही हो सकती है। उन क्षमताओं में कर्म-प्रेरणा भी है विचार-प्रेरणा भी। इस तरह वह सभी प्रकार के कर्मों का प्रेरक होने से 'करतार' भी है।

उस दातार और करतार के कार्यों से अभिभूत होकर हम सब श्रेष्ठ कारुगण उसका गुणानुवाद ही करते हैं। सदा-सदा गुणकीर्तन करते हैं। 'अर्य' शब्द का अर्थ है—ईश्वरपुत्र—अर्यः ईश्वरपुत्राः। अर्य ही आर्य भी है। श्रेष्ठ कर्म करके अपनी कार्यक्षमता की धाक जमाने वाले श्रेष्ठ-पुरुष ही अर्य या आर्य हैं।

'कारवः' का अर्थ है—श्रेष्ठ करने वाले—शिल्पकार विशेषतया शब्दशिल्पी। लोक में 'कमीन-कारु' के रूप में कारु शब्द आज भी प्रचलन में है। कमीन< कम्मिन्<कर्मिन्=कर्मकर और कारु—करोति इति=कलाकार—शिल्पकार। कवि और कलाकार, विद्वान् और बुद्धिमान् का सबसे बड़ा काम है— प्रभु के गुणगान करना। प्राकृत-जन के गुणगान करने से वाग्देवी का अपमान होता है—

कीन्हें प्राकृत जन गुणगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना।

कलाकार, शिल्पकार, कर्मकार आदि सबकी क्षमता उस असीम क्षमता के धनी और प्रेरक परमप्रभु का गुणगान करने में सफल होती है—

साधन और बुद्धि का दाता वह परमेश्वर
अमित बुद्धि से शोभित औ' उल्लेखनीय भी।
हम सब श्रेष्ठ कर्म-चिन्तन की थाम धरोहर
श्रेष्ठ कारु होने से करते सदा-सर्वदा गुणसंकीर्तन ॥

ॐ

तारक - मित्रमह

अच्छा नो मित्रमहो देव देवानग्ने वोचः सुमतिं रोदस्योः ।
वीहि स्वस्तिं सुक्षितिं दिवो नॄन् द्विषो अंहांसि दुरिता तरेम ।
ता तरेम तवावसा तरेम ।। (ऋग्वेद ६.२.११)

अच्छ नः मित्रमहः देव ! देवान् अग्ने वोचः सुमतिं रोदस्योः । वीहि स्वस्तिं सुक्षितिं दिवः नॄन् द्विपः अंहांसि दुरिता तरमे ता तरेम तव अवसा तरेम ।

१ (मित्रमहः देव अग्ने ! देवान् अच्छ) हे मित्रमह ! देव अग्नि ! द्यावा पृथिवी में रहने वाले देवों के पास

२ (नः सुमतिं वोचः) हमारी सु-मति (द्वारा प्रदत्त स्तुति) को कहो।

३ (दिवः नॄन् सुक्षितिं स्वस्तिं वीहि) दिव्य नेताओं को सुन्दर निवास स्थान प्रदान कर और कल्याणकर अवस्था को प्राप्त करा ।

४ (द्विपः अंहांसि दुरिता तरेम) हम शत्रुओं से, पापों से और कष्टों से मुक्त हो जाएँ ।

५ (ता तरेम, तव अवसा तरेम) (हे अग्ने !) हम उन कष्टों से पार हो, तेरे रक्षण से हम पार हों ।

भारद्वाज का दर्शन है । वे वाणी पर असाधारण अधिकार होने के कारण बृहस्पति के पुत्र कहे जाते थे। वे अग्नि को 'मित्रमह' कहते हैं । यह मातामह, पितामह, भ्रातामह की परम्परा का शब्द है । अग्नि के विशेषण के रूप में मित्रमह शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द का अर्थ है—मित्र के रूप में महनीय । पिता और पुत्र की अपेक्षा पौत्र और पितामह में अधिक निकटता होती है । उसी तरह मित्र से भी अधिक निकटता मित्रमह से होगी । अग्निदेव को अधिकाधिक निकटता से अनुभूति का विषय बनाने हेतु इस सम्बोधन का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है ।

मित्र शब्द का अर्थ है—मृत्यु से बचाने वाला—प्रमीतेः त्रायते । मृत्यु का भय सबसे अधिक होता है व्यक्ति को । उससे बचाने के लिए अग्निदेव की मित्रमह के रूप में स्तुति की गई है। मन्त्र में कहा गया है—हे मित्रमह, प्रकाशस्वरूप अग्नि! अन्तरिक्ष में रहकर सृष्टि-संचालन करने वाले देवों के समक्ष हमारी की हुई स्तुति का बखान कर । हमारी स्तुति सुमति से प्रेरित है । अग्नि देवमुख होता है । देवों तक हवि वह पहुंचाता है तो स्तुति भी पहुंचाएगा ही । परम प्रभु की वही अग्रणी शक्ति है । वह पृथिवी पर अग्नि रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप में और द्युलोक में सूर्य के रूप में व्याप्त है ।

अग्नि से ही प्रार्थना है कि वह नरों—नेताओं (नरम्-नेतारम् इति) को सुन्दर क्षिति—आधारभूमि, रहने का स्थान प्रदान करे । वह धरती का अधिष्ठातृ

देव है इसलिए वह पृथिवी पर श्रेष्ठ जनों के लिए श्रेष्ठ निवास-स्थान बताएगा। राम ने गंगा-यमुना के संगम के ऊपर बने आश्रम में जाकर भरद्वाज से पूछा था—ऋषिवर ! यह बताइए कि हम लोग कहाँ रहें ? भरद्वाज ने कहा था—उस स्थान पर रहिए जहाँ आप न हों।

भरद्वाज प्रार्थना कर रहे हैं कि हे अग्निदेव ! श्रेष्ठ पुरुषों को श्रेष्ठ निवास स्थान प्रदान करो। सुक्षिति का अर्थ है—श्रेष्ठ पृथिवी। अच्छी हरी-भरी निवास करने योग्य पृथिवी प्रदान करो। साथ में स्वस्ति सुन्दर स्थिति भी प्रदान करो। कल्याणकारी मार्ग पर चलने की शक्ति प्रदान करो। मंगलकारी कार्य कर सकें—ऐसी प्रेरणा प्रदान करो।

अग्नि मित्रमह है। वह पार कराने वाला है। किस-किस से पार करावे ? द्विषः से—शत्रुओं से पार करावे। अंहांसि अर्थात् पापों से पार करावे। साथ ही दुरितों से पार करावे। दुरित का अर्थ है—बुरी गति (दुः + इत = दुर्गति)। शत्रुओं से, पापों से और दुर्गति से आने वाली विपदाओं से पार करे। संकटों को निवारे।

उसकी तारक क्षमता से सब साधकों की रक्षा होगी। इसलिए विश्वासपूर्वक कहा गया है कि आपके संरक्षण में रहकर हम पार करेंगे सब संकटों को। भवसागर को पार करेंगे।

तुलसीदास ने अपने इष्टदेव को सम्बोधित करते हुए कहा था—

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।

अपने इष्टदेव की क्षमता को पहचान कर भक्त—साधक अपनी आवश्यकता के अनुरूप उसको पुकारता है—सहायता के लिए। कहावत है कि प्रभु को पुकारो, वह अवश्य सुनेगा। इसी विश्वास के अनुरूप यहां विश्वसनीय और महिमाशाली इष्टदेव की स्तुति की गई है। वह धरती का अधिष्ठातृदेव है—इसलिए प्रार्थना है कि वह सुक्षिति दे और कल्याणकारी है इसलिए कल्याण करे—कल्याण का मार्ग सुझाये। रक्षक है इसलिए रक्षा करे—शत्रुओं से, पापों से और दुर्गति से। साथ ही वह तारक है इसलिए तारे—सबका और हमारा भी उद्धार करे।

प्रार्थना के स्वर में साधक का संकल्प प्रकट हुआ है मन्त्र में—मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करूँ, पापों को दूर भगाऊँ और दुर्गतियों से बचूँ। सारे संकटों से पार उतर जाऊँ। प्रभु की साक्षी में, उसकी प्रेरणा से साधक अपने संकल्प को पूरा कर सकेगा—यह विश्वास है—त्रुटि होगी तो उससे बचा लेगा वह मित्रमह।

मित्रमह ! हे देव अग्ने ! स्तवन मेरे सुमति - प्रेरित
इन्हें देवों को सुनाओ द्यौ-धरा के बीच जो स्थित।
हम बने नेता तुम्हारी प्रेरणा पा, स्वस्ति दो, सुक्षिति तथा दो
तरें रिपुओं, पाप, दुर्गति से, तरें संरक्षा मिले जब। ☐

साधों की साध

वद्मा सूनो सहसो नो विहाया, अग्ने तोकं तनयं वाजि नो दा: ।
विश्वाभिर् गीर्भिर् अभि पूर्तिमश्यां मदेम शतहिमा: सुवीरा: ।

(ऋग्वेद ६.१३.६)

वद्मा सूनो सहस: न: विहाया: अग्ने तोकम् तनयम् वाजि न: दा: ।
विश्वाभि: गीर्भि: अभि पूर्तिम् अश्याम् मदेम शतहिया: सुन्वीरा: ।

१ (सहस: सूनो अग्ने ! विहाया: न: वद्मा:) हे बलपुत्र अग्नि । महान् ज्ञानी तू हमारे लिए हित का उपदेशक करने वाला बन ।

२ (वाजिन: तोकं तनयं दा:) हमें धनधान्य से सम्पन्न पुत्रपौत्र दो ।

३ (विश्वाभि: गीर्भि: पूर्तिं अभि अश्याम्) सब स्तुतियों का गान करने से हमारी कामनाएँ पूर्ण हों ।

४ (सुवीरा: शतहिया: मदेम) वीर पुत्र-पौत्रों से युक्त हम सौ वर्ष तक आनन्दमग्न रहें ।

अग्नि को शक्तिपुञ्ज कहा गया है । वह शक्तिपुत्र है । भरद्वाज ऋषि के दर्शन में अग्नि से हितकारी उपदेश देने के लिए और धनधान्य सम्पन्न पुत्र-पौत्र देने के लिए प्रार्थना की गई है । वह ज्ञानी है, ज्ञानियों में श्रेष्ठ है इसलिए हितकारी उपदेश देने में सक्षम है ।

तोकं-तनयं के साथ 'वाजिन:' विशेषण आया है । वाजयुक्त को वाजिन् कहा जाता है । भरद्वाज तो वाज का ही भरण करने वाले हैं । वे पुत्र-पौत्रों के लिए वाज क्यों न चाहेंगे । पुत्र-पौत्र हों और वे सब वाजी हों—धन्यधान्य वाले हो । इस कामना की पूर्ति के उद्देश्य से वे सुन्दर शब्दावली में स्तुति करते हैं । बृहस्पति का पुत्र हो उसे शब्द प्रयोग पर असाधारण अधिकार होगा ही । उसके वचन अमोघ अर्थात् प्रभावी भी होगे ही । इसलिए कहा गया है कि अव्यर्थ वाणी द्वारा अग्निदेव की स्तुति करके वे सब कामनाओं की पूर्ति कर लेना चाहते हैं ।

जो-जो मन में आधी-अधूरी कामनाएँ हैं वे सव अग्नि की कृपा से पूरी होंगी । कोई सपना अधूरा नहीं रहेगा । उसके सामने मांग ही वैसी रक्खी गई है । लोक कथाओं में कहा जाता है कि एक डोकरी ने अपने इष्ट देवता से अपनी चाह इस तरह व्यक्त की—'मैं अपने घर में बैठकर अपने पौतों-नातियों को सोने की चम्मच से खीर खिलाना चाहती हूं ।' इसमें सब कुछ मांग लिया । इसी तरह भरद्वाज ने यहाँ भी सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ मांग लिया और अन्त में कहा कि सु-वीरों वाला मैं सौ वर्षों तक आनन्द करता रहूं ।

परम प्रभु की प्रेरणा भी मांगी, जीवनी शक्ति भी मांगी, सौ वर्ष की अवस्था भी मांगी, सुन्दर शब्दसंसार से काव्य-रचना का सामर्थ्य भी मांगा, पुत्रपौत्र मांगे और वे भी धनधान्य से सम्पन्न। सुखी और समृद्ध जीवन का पूरा प्रबन्ध कर लिया।

शक्तिपुत्र हे अग्नि ! हमें दो पुत्र-पौत्र धनधान्य सहित।
स्तुति कर साधे सभी कामनाएँ, सुवीर सौ वर्ष जिएँ।

□

कर्म-प्रेरयित्री

त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती।
वाजे वाजे हव्या भूत्। (ऋग्वेद ६.६१.१२)

त्रि-सधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती। वाजे वाजे हव्या भूत्।

१ (त्रि-सधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती) तीन स्थानों में रहने वाली, सात धारक शक्तियों से युक्त, पाँच समुदाय के मानवों को बढ़ाने वाली [सरस्वती]

२ (वाजे वाजे हव्या भूत्) युद्ध-युद्ध में आह्वान करने योग्य होती है।

सरस्वती विद्या और ज्ञान की देवी है। वह वाणी की देवी होती है इसके साथ ही कर्म की देवी भी होती है। वाणी की सार्थकता कर्म में होती है। जो कहना है उसे करके दिखावे तभी वाणी को अमोघता प्रमाणित होगी।

वाणी के तीन सदन हैं—आकाश (द्युलोक), अन्तरिक्ष और पृथिवी। उसकी व्याप्ति तीनों लोकों में होती है। शरीर में उसके सदन हैं—आत्मा, बुद्धि और मन। आत्मा के साथ वाक् उसकी शक्ति बन कर अभिन्न रूप से रहती है। बुद्धि में उसका उदय विवेक के रूप में होता है। मन में सङ्कल्प के रूप में वही प्रकट होती है।—इन तीन सदनों में वाणी के तीन रूप परा, पश्यन्ती और मध्यमा व्याप्त रहते हैं। उनसे उद्दीप्त होकर मुख से निकलने वाली वैखरी वाणी प्रकट होती है।

उसे सप्तधातु—सप्तधारक तत्त्वों वाली कहा गया है। पंचभूत, प्राण और चित्त—ये सप्तधातुएँ हैं। इन सात धारक तत्त्वों वाली सरस्वती पंच जातों—जन्म लेने वालों को बढ़ावा देती है। धरती पर जो भी पैदा होते हैं वे जात हैं। वे पांच प्रकार के हैं। चातुर्वण्य व्यवस्था में चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद पंचजन हैं। इन सबको सरस्वती बढ़ाती हैं। इनकी उन्नति में योगदान करती है।

सरस्वती वेदमाता है। वह किसी विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग का हित नहीं करती वरन् वह सबका हितसाधन करके अपना निश्छल व्यक्तित्व प्रकट करती है।

इसलिए जीवनसंघर्ष में सब उसकी प्रेरणा को अनिवार्य मानते हैं। सब उसको आवाहन करने योग्य मानते हैं।

वाज शक्ति[-प्रदर्शन] का नाम है। वाज अन्न को भी कहा जाता है। अन्न से पलने वाले पंचभूत-निर्मित शरीर द्वारा किए जाने वाले श्रम को ही वाज कहा गया है—शरीर-श्रम (Manual Labour) में भी बुद्धिकौशल की आवश्यकता होती है। इसलिए बुद्धि की देवी सरस्वती का आवाहन किया जाता है—

तीन सदन में व्याप्त जो सप्तधातुकी भव्य।
पञ्चजनों को बढ़ाती, कर्म-कर्म में हव्य ॥

वह रक्षक

अस्मा अवन्तु ते शतमस्मान्त्सहस्रमूतयः।
अस्मान् विश्वा अभिष्टयः ॥ (ऋग्वेद ४.३१.१०)

अस्मान् अवन्तु ते शतम् अस्मान् सहस्रम् ऊतयः। अस्मान् विश्वा अभिष्टयः।

१ (ते शतम् ऊतयः अस्मान् अवन्तु) [हे इन्द्र!] तुम्हारे सौ रक्षा-साधन हमारी रक्षा करें

२ (ते सहस्रम् [ऊतयः अवन्तु]) तुम्हारे हजार रक्षा-साधन हमारी रक्षा करें।

३ (विश्वाः अभिष्टयः अस्मान्[अवन्तु]) सब प्रकार की इच्छाएँ हमारी रक्षा करें।

वामदेव गौतम का दर्शन है। इन्द्र की स्तुति है। इन्द्र का पराक्रम स्तुति का विषय है। जो पराक्रमी है उसका पराक्रम रक्षा का साधन ही बन सकता है। इन्द्र को पुरुशाक=बहुत पराक्रमी कहा गया है। वह सहस्राक्ष है। सौ आँखों से देखता है सबके कार्यों को। एक कहावत प्रचलित हो गई है—

राम झरोखे बैठ कर, सबका मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, तैसो ही फल देय ॥

यह इन्द्र की क्षमता है कि वह सबकी निगरानी एक साथ कर लेता है। जब वह सबको देखता है तो प्राणियों के कष्टों को भी देखता है। उन कष्टों और विपदाओं से प्राणियों को बचाना भी चाहता है। बचाने के लिए उसके पास अपरिमित साधन हैं। जितने कष्ट हैं उतने ही रक्षा-साधन हैं। जितने व्यक्ति कष्ट में हैं उनकी रक्षा के लिए उतने ही रक्षा-उपकरण हैं।

मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र के पास सौ रक्षा साधन हैं, सहस्र रक्षा साधन हैं। स्तोता प्रार्थना करता है कि वह परम प्रभु सौ रक्षा साधनों से हमारी रक्षा करे, हजार रक्षा साधनों से हमारी रक्षा करे। हमारा बचाव करे।

रक्षासाधनों को 'ऊतिः' कहा गया है। यह √ अव्—रक्षणे धातु से बना हुआ शब्द है। अव + क्तिन्—ऊतिः = रक्षा का भाव, रक्षा का साधन।

इन्द्र के पास रक्षासाधन ही नहीं हैं, रक्षा करने की तीव्र इच्छा भी है—Will-Power। इसी को 'अभिष्टि' कहा गया है। उसकी अभिष्टियाँ—इच्छाएँ, अभिप्राय भी हमारी रक्षा करें। अर्थात् वह अन्तर्तम से साधक की रक्षा करे।

सौ ऊतियाँ इन्द्र तव
रक्षा करें सहस्र भी।
हमारी, सब चाह भी।

□

जीवनदायी जल

ऋतेन देवी स्मृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित् स्रवितवे दधन्युः।

(ऋग्वेद ४.३.१२)

ऋतेन देवीः अ-मृताः अ-मृक्ताः अर्णोभिः आपः मधुमद्भिः अग्ने! वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित् स्रवितवे दधन्युः।

१ (अग्ने! अमृताः अमृक्ताः मधुमद्भिः अर्णोभिः देवीः आपः) हे अग्ने! अमृत स्वरूपा, अखण्ड रूप से बहने वाली, मधुर जलों वाली [नदियाँ]

२ (सर्गेषु प्रस्तुभानः वाजी न) सर्गों में जाने के लिए प्रस्तुत अश्व की तरह

३ (ऋतेन सदमित् स्रवितवे प्र दधन्युः) सत्य से प्रेरित हो सदा बहने के लिए जाती हैं।

नामदेव गौतम दृष्ट मन्त्र है। अग्नि की स्तुति है। दिव्य जलों के प्रवाह की बात कही गई है। कामना की गई है कि अग्नि की कृपा से दिव्य जल सदैव प्रवाहित होते रहें। कहाँ? सर्ग में। सर्ग का अर्थ है जहाँ सर्जना होती हो—निर्माण का कार्य चलता हो। जीवन-संघर्ष में जूझते हुए मनुष्यों के लिए सदानीरा नदियों में सदैव जल प्रवाहित होते रहें। जलों के लिए उपमा है—अश्वों की तरह। अश्व जैसे सर्गों में दौड़ लगा कर जाते हैं वैसे जल-प्रवाह दौड़ें। दौड़ते ही रहें। वेगपूर्वक प्रवाहित होते रहें। क्यों?

श्रम करते हुए, संघर्ष करते हुए जब व्यक्ति थक जाता है तो उसे ताजगी प्रदान करने के लिए जल की आवश्यकता होती है। दूर से थका हुआ कोई व्यक्ति द्वार पर आता है तो उसे अर्घ्य और पाद्य अर्पित किया जाता है—पाद्य—पाँव धोने के लिए कुनकुना पानी और अर्घ्य—आचमन के लिए मधु मिला हुआ ठण्डा जल।

जब कोई व्यक्ति कठोर श्रम करता है तब श्रम-सहयोग के रूप में अन्य व्यक्ति जल प्रदान करते हैं। इसलिए सर्वत्र सदानीरा नदियाँ बहती रहनी चाहिए। कर्मठ श्रमिकों का सहयोग करने के लिए प्राकृतिक वातावरण समृद्ध रहना चाहिए। यदि प्रकृति साथ न दे तो चाहते हुए भी कोई किसी का सहयोग नहीं कर पाएगा? भोजन न दे पाए तो भी जल समर्पित करने जैसी स्थिति तो सदैव बनी रहनी चाहिए।

मन्त्र में जलों के कुछ विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। वे जल अमृत-स्वरूप हैं। हमारे लिए जल अमृत की तरह के मीठे हों। थका हुआ शरीर जब शक्ति की, ऊर्जा की चाह करे तब तदनुरूप अमृत जैसा जल उपलब्ध रहे।

जलों का दूसरा विशेषण अमृक्ताः है। √मृज् धातु से बना हुआ शब्द मृक्त है। उससे अमृक्त। अ-निषेध बोधक नहीं है। अतिशय बोधक उपसर्ग है—अमूल्य में प्रयुक्त अ उपसर्ग की तरह। मृक्त का अर्थ परिमार्जित, परिशुद्ध, पवित्र। अमृक्त का अर्थ है—अतिशय परिमार्जित, विशुद्ध, पवित्र। 'अर्णोभिः' का अर्थ है—जल युक्त प्रवाह—नदियाँ। ये नदियाँ—जल प्रवाह, ऋत द्वारा प्रेरित हैं। ऋतप्रेरित नदियाँ सर्ग में—सृष्टि में जाती हैं जैसे अश्व सर्ग में—युद्ध में जाते हैं।

आज पेय-जल की समस्या विकराल होती जा रही है। जलप्रदूषण से नदियाँ प्राणलेवा बन गई हैं। इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि वेदमाता ने मनुष्य का ध्यान जलविषयक सभी विचारणीय बातों की ओर दिलाया है। जल जीवनदाता है। वह जीवनदाता बना रहे और जीवनी-शक्ति चाहने वाले लोग उसका उपयोग करके जीवन को जीवनीशक्ति से भरते रहें—यही मन्त्र का विषय है। जल को ऐसा रखने के लिए अग्नि से प्रार्थना की गई है।

जीवन में ऊष्मा भी चाहिए—ओजस्वी और तेजस्वी बने रहने के लिए, और शीतलता और आह्लाद भी चाहिए जो सोम के स्थूल रूप जल से प्राप्तव्य हैं।

जल सत्य से प्रेरित है—इसका अर्थ है, जल अस्तित्व बनाए रखने की क्षमता शरीरधारी को प्रदान करता है। जल मातृचेतना से अनुप्राणित है—इस अर्थ में 'देवी आपः' शब्द का प्रयोग किया गया है। जल चेतना के केन्द्रविन्दु हैं। जब श्रम करके मनुष्य श्रान्त हो जाए तब उसके अस्तित्व के लिए जीवनदायी मधुर—शीतल जल की आवश्यकता होती ही है। वह जीवनदायी जल नदियों में प्रवाहित हो। वह प्रदूषणमुक्त हो। वह नई सर्जना में कारण बने।

अमृत और परिशुद्ध मधुर जल ऋतप्रेरित
अग्ने! बहता रहे तीव्रता से नित-नित
अश्व युद्ध में जैसे जाने को प्रस्तुत
वैसे श्रमस्थल-निकट रहें बहते रस-जल। ▣